रचना-विकाश

रचना के नियमों की मार्मिक विवेचना
एवं भाषा-शैली की सर्वांग
आलोचना-पूर्ण पुस्तक

लेखक
काव्यालङ्काराचार्य्य
पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०

प्रकाशक
ओंकार प्रेस, प्रयाग ।

प्रथमावृत्ति] १९२९ ई० [मूल्य १)

प्राक्कथन

मैंने बड़ी रुचि से इस पुस्तक को साद्योपान्त पढ़ा। रचना-शक्ति तो दैवी है। कोई किसी को इस विषय में सहायता कहां तक पहुँचा सकता है यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त है। सम्भवतः रचना-शैली—गद्य में अथवा पद्य में—सिखाई नहीं जा सकती। यह भी हो सकता है कि शिक्षक की अचतुरता से स्वाभाविक प्रतिभा का ह्रास हो जाय। इसी से 'रसाल' जी ने शिक्षा देने का प्रयास किया है—प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है। यद्यपि काव्य में अनेक गुण ऐसे हैं जैसे—रस, माधुर्य्य, अर्थविलक्षणता आदि—जो यदि स्वभाव से वर्तमान नहीं हैं तो कभी न आयेंगे, तथापि कुछ ऐसी भी विशेषतायें हैं—यथा शब्द-विन्यास, परिपक्वता, गुणदोषविवेक, एवं अलङ्कार आदि—जिनका ज्ञान अध्यापक-द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। कम से कम काव्य के इन गुणों को प्राप्त करने के निमित्त अध्यापक की आवश्यकता अनिवार्य है। रचना-विज्ञान के कुछ तत्व ऐसे हैं जो सर्वमान्य हैं तथा काल और देश की सीमा से बद्ध नहीं हैं। 'रसाल' जी ने इन्हीं तत्वों को एकत्रित किया है और ऐसी सुचारु रीति से इनका वर्णन किया है कि बालक भी उन्हें भली भांति समझ लेगा। प्रति सिद्धान्त का समीचीन उदाहरण भी इस पुस्तक में वर्तमान है।

'रसाल' जी ने कविता के क्षेत्र में अच्छा यश प्राप्त कर लिया है। अलङ्कार के विषय पर उनका जो ग्रन्थ है उससे उनके पाण्डित्य और साहित्यज्ञान का पूर्ण परिचय मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ से यह सिद्ध होता है कि वे न केवल स्वयं सुकवि और सुलेखक हैं परन्तु औरों को सुलेखक बनाने की भी पूर्ण योग्यता रखते हैं।

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
१९—९—२९

—अमरनाथ झा एम० ए०

निवेदन

हिन्दी साहित्य में रचना के विषय पर बहुत कम कार्य हुआ है, कोई भी पुस्तक निबन्ध-रचना की विवेचना के विषय पर, अच्छे ढङ्ग से रचना-सम्बन्धी उपयुक्त एवं उपादेय नियमों को दिखलाते हुए नहीं लिखी गई और यही कारण है कि हमारे साहित्य में अच्छे निबन्धों की बड़ी न्यूनता है। यद्यपि सुन्दर निबंध लिखने की प्रतिभा एक स्वाभाविक वस्तु है और वह सब में सामान रूप से नहीं पाई जाती तो भी यदि रचना सम्बन्धी आवश्यक नियमों के अनुसार निबंधादि लिखे जावें तो अच्छे निबंध लिखे जा सकते हैं और इन नियमों का पालन करके हम अपने को यदि उच्चकोटि का स्वाभाविक निबंध लेखक नहीं तो कम से कम सुलेखक तो अवश्य ही बना सकते हैं। निवंध-रचना की शिक्षा स्कूलों और कालिजों में विद्यार्थियों को दी जाती है और उन्हें निबंध लिखने में अभ्यास कराया जाता है, उनके पथ प्रदर्शनार्थ निबंध-रचना सिखाने वाली कुछ पुस्तकें अवश्य लिखी गई हैं, किन्तु खेद है कि उन पुस्तकों में निबंध-रचना के आवश्यक नियमों का प्रदर्शन विवेचना के साथ नहीं कराया गया, यदि किसी में ऐसा हुआ भी है तो बहुत ही सूक्ष्म रूप में, जिससे विद्यार्थियों को यथोचित लाभ नहीं पहुंचता। जहां तक देखा जाता है इस प्रकार की पुस्तकों में केवल कुछ ही स्थूल नियमों के साथ उदाहरणों के रूप में कुछ निबंध लिख कर रख दिये जाते हैं, किन्तु रचना-

सम्बन्धी नियम विवेचनात्मक ढङ्ग से नहीं दिये जाते या बहुत कम दिये जाते हैं। यद्यपि इनका देना अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है क्योंकि जब तक विद्यार्थीगण नियमों से ही पूर्णतया परिचित न होंगे तब तक वे उदाहरणों के रूप में दिये जाने वाले निबंन्धों से विशेष लाभ नहीं उठा सकते। वे उनको रट कर उनका अनुकरण कुछ भले ही कर लें, किन्तु इस प्रकार उनमें लेखक होने की स्वतंत्र क्षमता या योग्यता नहीं आ सकती । इसके विपरीत यदि वे निबंध लिखने के नियमों से पूर्णतया परिचित हैं तो वे उन नियमों का पालन करते हुए स्वतंत्र रूप से थोड़े ही दिनों तक अभ्यास करके अच्छे निबंध लिख सकते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर हमने विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक लिखी है और इसमें केवल रचना संबन्धी नियमों का प्रदर्शन विवेचनात्मक ढङ्ग से कराया है। हमें आशा है कि हमारे विद्यार्थी इससे अवश्य लाभ उठावेंगे और उन्हें इसके आद्योपान्त पढ़ चुकने पर रचना-शैली, रचनोपयुक्त भाषा, निबंन्धो में शब्द-संगठन तथा पद-विन्यास आदि की समस्त आवश्यक बातों का ज्ञान हो जायगा और उनमें यह योग्यता उत्पन्न हो जायगी कि वे अच्छे लेख लिख सकेंगे—

काव्य 'कुटीर' प्रयाग —रामशङ्कर शुक्ल "रसाल" एम० ए०

१५-६-२६

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ
१. भूमिका	...	...	...	१
२. भाषा की उत्पत्ति एवं विकास		...	...	६
३. शब्द और अर्थ	...	...	...	१८
४. भारतीय मत	...	...	...	२४
५. शब्द और अर्थ शक्ति		...	...	३०
६. लेख और तदावश्यकता		...	...	३५
७. लेखक के विषय में		...	...	३९
८. कथात्मक निबन्ध	...	...	...	४३
९. कथा लिखने का ढङ्ग		...	...	४५
१०. कथात्मक निबंध के ढांचे		...	...	५३
११. वर्णनात्मक निबंध		...	...	५६
१२. व्याख्यात्मक निबंध		...	...	६६
१३. विषय-विभाग या ढांचा बनाना		...	...	७८
१४. लेखन शैली	...	...	...	१४१
१५. शब्दों के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें			...	१४१
१६. लेख के विषय में	...	...	...	१४६
१७. निबंध के विषय में टिप्पणियां		...	...	१७५

भूमिका

मनुष्य की अनेक मनोवृत्तियों में सर्वप्रधान एवं सर्वाग्रगण्य वह मनोवृत्ति है जो उसे इस बात के लिये सदैव प्रेरित करती रहती है कि वह अपने मानसिक विचारों, भावों, कल्पनाओं तथा भावनाओं (मनोविकारों या Feelings) को दूसरों के सामने व्यक्त करे। साथ ही दूसरों के मनोविचारों आदि को स्वयम् जाने और अनुभव करे। इस मनोवृत्ति को मनोविज्ञान के विशारदों ने "आत्माभिव्यञ्जनवृत्ति" की संज्ञा दी है । इसी की प्रेरणा से मनुष्य अपने भावों को प्रदर्शित करता है। प्रश्न उठेगा कि मनुष्य में भाव एवं विचारादि कहाँ से एवं कैसे आते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि मनुष्य चैतन्य-स्वभाव है (आत्मा चैतन्य-स्वरूप है—भारतीय दर्शन-मत) अतः उसमें विचारादि का होना स्वाभाविक बात है। प्रकृति-द्वारा मानव-मस्तिष्क में तीन प्रकार की शक्तियाँ दी गई हैं—(१) जिज्ञासा या जानने की शक्ति (२) अनुभव करने की शक्ति (Feeling) (३) इच्छा शक्ति (Willing) इन सब में वही प्रथम या जानने वाली जिज्ञासा शक्ति प्रधान है। मनुष्य अपने वाह्य-संसार में अनेका-

नेक पदार्थों को अपनी ज्ञानेन्द्रियों (५ ज्ञानेन्द्रियाँ—आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा) के द्वारा अनुभवित करता है, क्योंकि वे पदार्थ इनमें अपना २ प्रभाव डालकर संचलन क्रियायें उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसा होने के साथ ही मस्तिष्क में भी कुछ क्रियायें होने लगती हैं जिनसे ही विचारों एवं भावों की उत्पत्ति होती है। मस्तिष्क में जो क्रियायें स्वतंत्र रूप से बिना किसी की प्रेरणा एवं आज्ञा के होती हैं उन्हें हम कल्पनायें कहते हैं। यह कल्पनायें ज्ञानानुभव पर ही समाधारित रहती हैं, परन्तु प्रेरित होने तथा उत्पन्न होने के लिये किसी पदार्थ के प्रभाव की आवश्यकता नहीं रखतीं। (देखो भौतिक मनोविज्ञान की किसी पुस्तक में) इससे स्पष्ट है कि वाह्य संसार के पदार्थों से अथवा अपने आप ही संचालित हो कर मस्तिष्क अपनी क्रियाओं या गतियों के द्वारा विचारों, भावों तथा कल्पनाओं को उत्पन्न करता है। इन्हीं विचारों आदि को दूसरों पर प्रदर्शित या व्यक्त करने के लिये मनुष्य को उसकी आत्माभिव्यंजना वृत्ति प्रेरित किया करती है।

मनुष्य अपने भावों एवं विचारों आदि के प्रकाशित करने के लिये कई साधनों का उपयोग करता है। कभी २ वह उन्हें इशारों से (हाथ, आँख, आदि की विशेष भाव-सूचक क्रियाओं से) कभी चेष्टाओं, कभी नाद से तथा कभी लेखन-

---

नोट—यह विषय कि विचारों एवं उनके प्रकाशन में क्या सम्बन्ध है तनिक विवाद-ग्रस्त है, इसपर हम आगे कुछ प्रकाश डालेंगे।

द्वारा प्रगट करता है। अतः हम यों कह सकते हैं कि मनोगत विचारों का प्रकाशन दो रूपों में होता है (१) संकेतात्मक (जिसमें चेष्टायें, इशारे या इंगन तथा लेखादि आते हैं) तथा (२) शब्दात्मक जिसमें नाद-यंत्र के द्वारा प्रस्फुटित किये गये स्वर या ध्वनि-समूह आते हैं।

संकेतात्मक ढंगों से प्रायः गूँगे, या ऐसे लोग विशेष काम लेते हैं जो दूसरों के शब्दों को नहीं समझ सकते। शेष लोग प्रायः व्यक्त नाद से ही पूर्णतया सहायता लेते हैं और अपने विचारों को कुछ निश्चित किये हुये शब्दों के द्वारा व्यक्त करते हैं। साथ ही वे संकेतों एवं इशारे से भी काम लिया करते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि गूँगे तथा वे लोग जो किसी प्रकार शब्दों के द्वारा अपने भाव नहीं प्रगट कर सकते, ऐसे समय में अपने विचारों या भावों को चित्रों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने मनोगत पदार्थ का कहीं पर चित्र बना देते हैं (जैसे किसी गूँगे को फूल कहना है तो वह उसका चित्र उसे स्पष्ट करने के लिये बना देगा) बस इसी प्रकार चित्र-कला तथा चित्र-लिपि (चित्र-लेखनादि) का जन्म हो जाता है।

विद्वानों ने भाषा की परिभाषा इसीलिये एक व्यापक रूप में यों दी है—"भाषा वह है जिसके द्वारा हम अपने मनोगत भावों को दूसरों पर इस प्रकार प्रकट करते हैं कि वे उन्हें सर्वथा समझ जाते हैं"—किन्तु भाषा का ऐसा व्यापक

अर्थ हम साधारणतया नहीं लेते वरन् इसे और संकीर्ण रूप दे देते हैं। इस व्यापक रूप में तो संकेतात्मक रीतियाँ भी आ जाती हैं, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार-पात किया जावे तो यह परिभाषा सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन है, और स्वाभाविक सत्यता रखती है। संकेतात्मक प्रकाशन भी भाषा का रूप है। साधारणतया भाषा की संकीर्ण तथा सर्वमान्य परिभाषा यों हो सकती है—

भाषा—उन स्पष्ट एवं व्यक्त शब्दों (भावद्योतक चिन्हों) से बनी हुई एक विशेष प्रकाशन (विचार-प्रकाशन) रीति या शैली है जिसके द्वारा दूसरों को विचारों का बोध कराया जाता है। यह शब्द-समिष्टि अपनी ही इच्छानुसार उत्पन्न की या दोहराई जा सकती है। इसी को यों कहिये कि 'भाषा से हमारा तात्पर्य भावों और विचारों के उन व्यक्त चिन्हों की समिष्टि से है जिसका भाव-बोध होता है'——(भाषा विज्ञान—पृ० २८)

अब यदि विचार-दृष्टि से सूक्ष्मता के साथ देखा जावे तो यही ज्ञात होगा कि भाषा की वह व्यापक परिभाषा यहां भी सर्वथा चरितार्थ होती है। शब्द वस्तुतः कुछ नहीं हैं, केवल भावों के नाद-चिन्ह, स्वरायमान या शब्दायमान मौखिक संकेत मात्र हैं जिन्हें समाज ने विशेष भावों का सूचक मानकर उन्हीं भावों या अर्थों के लिये निश्चित कर दिया गया है। इस विचार से भाषा हमारे मनोगत विचारों या भावों का संके-

तात्मक प्रकाशन-रूप ही है। जब हम अपने विचारों को चित्रों में रूपान्तरित करके चित्र-लिपि के द्वारा, जैसा ऊपर कहा गया है, स्पष्ट करते हैं तब भी मानो हम संकेतात्मक (चिन्हात्मक) भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। अतः हम कह सकते हैं कि भाषा के मुख्यतः तीन रूप होते हैं। (१) आंगिक संकेतात्मक या शारीरिक चेष्टात्मक भाषा (मुखादि अंगों की विकृतियाँ और क्रियायें जो भाव सूचित करती हैं) (२) शब्द-संकेतात्मक (ध्वन्यात्मक—जिसे हम सुनकर समझते हैं और जिसमें भावों को शब्दों या ध्वनियों तथा नादों के द्वारा प्रगट किया जाता है और जिसमें भावों का संकेत-स्वरों (Sound) के द्वारा किया जाता तथा भावों के लिये जिसमें व्यक्त नाद-जन्य शब्द रूपी संकेत रहते हैं) यह मौखिक संकेतों से सर्वथा सम्बद्ध और नाद यंत्रों से उत्पन्न ध्वनियों पर निर्भर है और स्पष्ट होने में कर्णेन्द्रिय की सहायता चाहती है। (३) चित्र संकेतात्मक (लिपि भाषा) जिसमें भावों को चित्रों के द्वारा सूचित करते हैं और उन्हीं के संकेतों के द्वारा उन्हें व्यक्त करते हैं। इसके दो रूप हैं (१) जिसमें पदार्थों के चित्र रहते हैं—जैसे प्राचीन तथा पूर्वैतिहास के समय की चित्रलिपियाँ, जिनमें पशु, पक्षी तथा अन्य पदार्थों के चित्रों का समावेश रहता था और चीनी भाषा या लिपि जिसमें चित्रों या पदार्थाकृतियों के आलेख्यों का प्रयोग किया जाता है। (२) जिसमें स्वरों या ध्वनियों के लिये विशेष २ प्रकार एवं

आकार के रूप निश्चित या निर्धारित कर लिये जाते हैं और समाज के द्वारा वे स्वीकृत तथा मान्य कर लिये जाकर सर्व साधारण और व्यापक रूप में व्यवहृत किये जाते हैं। जैसे सब भाषाओं, अंग्रेजी-हिन्दी, फारसी आदि की लिपियों की वर्णमालाओं में—(इस बात को यह पुष्ट करती है कि अंग्रेजी उर्दू और हिन्दी में भिन्न भिन्न लिपियाँ हैं—तथा अंग्रेजी में तो लिखने की लिपि और है, छापे की लिपि और है तथा छापे की एवं लिखने की लिपियों में भी प्रत्येक वर्ण के कई कई रूप हैं—उर्दू में भी छापे की लिपि, लिखने की लिपि से भिन्न है तथा लिखने की लिपि में भी विविध प्रकार की आकृतियाँ वर्णों के लिये नियत हैं, ऐसा ही कुछ हिन्दी एवं संस्कृत में भी है परन्तु बहुत ही कम, इसमें छापे और लिखने की लिपियों के वर्ण-रूप समान ही होते हैं, बहुत कम या कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता) यह लिपि कला हाथ से सम्बन्ध रखती है और इसके समझने के लिये नेत्रों की ही सीधी सहायता आवश्यक एवं अनिवार्य है। अब इधर कुछ वैज्ञानिकों ने अंधों के लिये भी इसी लिपि को ऐसा बना दिया है कि वह छू कर और त्वचा की साहाय्य से भी समझी जा सकती है। उन्हें उभड़े हुये (लकड़ी या धातु पर) अक्षर दिये जाते हैं और वे उन्हें छू कर समझ लेते हैं, अतः हम कह सकते हैं कि यह एक स्पर्शात्मक या स्पर्शबोधव्य लिपि या भाषा है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यही बात प्रगट होती है

कि प्रथम विचार होते हैं तब कहीं भाषा होती है, किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि बिना भाषा एवं बिना शब्दों के हम में विचार उत्पन्न हो ही नहीं सकते। जब कभी हम कुछ सोचते या विचारते हैं तब हम शब्दों तथा भाषा के ही द्वारा या उसीकी साहाय्य से विचारते हैं। यह भी प्रत्यक्ष तथा सर्वानुभवित बात है कि जिसके पास जितने ही कम शब्द होते हैं उतने ही कम उसमें विचार या भाव भी उठते हैं। उन वस्तुओं एवं पदार्थों के विषय में हम कुछ भी नहीं सोच सकते जिनके लिये हमारे पास शब्द नहीं होते, या जिनका हम नाम ही नहीं जानते। यह बात विशेषतः उन पर चरितार्थ होती है जो कुछ प्रौढ़ अवस्था के होते हैं। यह विषय अवश्यमेव बहुत संदिग्ध एवं विवाद-ग्रस्त है कि बच्चे सोच सकते हैं या नहीं, उनमें जब भाषा का संचार नहीं रहता, तब विचार होते हैं या नहीं। भाषा-विज्ञान-विशारदों तथा मनोविज्ञान-मर्मज्ञों के कई-मत तथा सिद्धान्त इस विषय पर हैं। कोई विचारों को मुख्य और पूर्व मानते हैं तथा भाषा को गौण और पीछे मानते हैं तो कोई भाषा को, उसकी व्यापक तथा विशद परिभाषा को लेकर प्रथम और प्रधान मानते हैं और विचारों को उसके आश्रित समझते हैं। उनका कहना है कि बच्चों में भी विचार एवं भावनायें प्रत्यक्ष देखने को मिलती हैं। बच्चा जब वह भाषा नहीं समझता, एवं जानता तथा जब वह बोल भी नहीं सकता तब भी शब्द सुनकर तथा विशेष २ वस्तुयें देखकर ऐसे आचरण करता है

जिनसे स्पष्ट होता है कि इसमें विचार एवं भावनायें हैं। वह अपनी भावनायें इंगनों या संकेतों तथा अन्यान्य प्रकारों से प्रकट करता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि ज्यों ज्यों वह भाषा जानने और समझने लगता है त्यों ही त्यों उसके विचार-क्षेत्र में भी विशद विकास होता जाता है। यह भी स्पष्ट है कि बच्चों में विचारों की बड़ी कमी रहती है क्योंकि उनके पास शब्द-कोष तथा भाषा का ज्ञान कम रहता है, किन्तु उनमें कुछ न कुछ विचार अवश्य होते तथा पदार्थों को देखकर अवश्य उठते हैं, चाहे वे उनसे तथा उनको व्यक्त करने वाली प्रचलित भाषा से परिचित हों या न हों। अब एक तीसरे प्रकार का मत यह भी है कि भाषा और विचार में अन्योन्याश्रय भाव और सहयोगिता का सम्बन्ध है। ये दोनों सहचर होकर मैत्री-भाव रखते हैं। इन दोनों में साम्यभाव तथा सहकारिता का सम्बन्ध दृढ़ रूप से रहता है। इस प्रकार इस विषय में मत-बाहुल्य है तथा अद्यापि यह विषय विवादास्पद है, विद्वान लोग भी बड़ी गंभीर एवं गूढ़ गवेषणा तथा विवेचना के कर चुकने पर भी किसी यथार्थ एवं निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुंच सके।

भाषा की उत्पत्ति एवं विकास।

भाषा की उत्पत्ति कब, कैसे, कहाँ और किसके द्वारा हुई? यह प्रश्न भी अब तक अपूर्ण ही पड़ा है। यद्यपि अनेक विद्वानों ने इसकी पूर्ति का कठिन तथा अथक प्रयास किया है, बड़ी गंभीर एवं गूढ़ विवेचना तथा गवेषणा की है, बहुत महत्वपूर्ण अन्वेषण इसका हुआ है, तौ भी कोई निश्चित बात नहीं पाई जा सकती है। विद्वानों में भी मत-भेद है तथा उनके इस विषय पर अपने अपने अनोखे एवं चोखे सिद्धान्त हैं। वहवह तथा पोहपोह सिद्धान्त अधिक प्रधान एवं उपयुक्त समझे जाते हैं। इन सिद्धान्तों के जन्मदाता वही हैं जो डिंगडांग सिद्धान्त के आविष्कारक हैं और मेक्समूलर (Maxmuller) के नाम से प्रसिद्ध हैं। आप वेदज्ञ जर्मन-विद्वान तथा दार्शनिक तत्ववेत्ता हैं। इन सिद्धान्तों के दूसरे नाम ये हैं:—(१) वाहवाह सिद्धान्त (विस्मयादि बोधक या मनोविकार बोधक) (२) पोह पोह या ध्वन्यानुकरण सिद्धान्त (३) क्रियानुकरण या गुणानुकरण सिद्धान्त (इसमें आभ्यन्तरिक संचलन-क्रियाओं तथा वाह्य पदार्थों के गुण-कर्मादि के अनुकरण से शब्दोत्पत्ति होती हुई मानी गई है) इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धान्त इसी विषय पर हैं। अब यदि यहाँ तनिक काल्पनिक सूक्ष्म बुद्धि से विचार किया जावे तो

यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि इन सब सिद्धान्तों का आधार एक ही मुख्य सिद्धान्त है—वह मूल सिद्धान्त है:—(१) आनुकरणिक चेष्टा (Imitative gesture) और स्वाभाविक संकेत या इशारे और उनके चिन्ह। यह तो इस विषय का एक रूप है। शरीर-विज्ञान-वेत्ता (Physical Scientist) अपना मत इस विषय में यों देते हैं—भाषा हमारे आभ्यंतरिक मस्तिष्कीय क्रियाओं तथा मनोवेगों या संचलन-गतियों का वाह्य व्यक्त रूप है, विचारों की क्रियायें तथा उनका गति-वेग हमारे वाह्यांगों को उत्तेजित एवं संचालित करता है जिसकी प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप में हममें आंगिक चेष्टायें (Bodily Expressions) संकेत एवं शब्द उत्पन्न होते हैं। नाद-यंत्रों के प्रेरित तथा संचालित होने पर ध्वनियों एवं शब्दों आदि का जन्म होता है, मस्तिष्क, शरीर एवं तदंगों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि यदि एक में कुछ क्रिया या गति हुई तो दूसरे में भी तदुपयुक्त क्रिया या गति उत्पन्न हो जाती है। यही भाषा का मूल है। कह सकते हैं कि यही क्रियात्मक संचलन (Active movement) विचार के परिस्फुटन तथा प्रकाशन का मूल रूप है। किन्तु जैसे ही जैसे हम इन आंगिक व्यक्त क्रिया-संचलनों पर प्रभावी होते जाते हैं और इनके दमन करने तथा रोकने में समर्थ होते जाते हैं वैसे ही वैसे हममें विचारों का स्वतंत्र विकास-प्रवाह बढ़ता जाता है और हमारे विचार अपनी गति या अपने क्रिया-वेग से आंगिक क्रियाओं को बिना उत्पन्न किये ही दूसरे रूपों में चलने लगते हैं।

वे या तो केवल शब्दों के रूप में परिवर्तित एवं स्पष्ट हो बाहर आते हैं या मस्तिष्क ही में मौनता के साथ प्रवाहित होते चलते रहते हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से हमारे विवेचना-पथ की बहुत सी कठिनाइयों की उलझनें सुलझ कर दूर हो जाती हैं। इससे यह बात भी पूर्णतया स्पष्ट है कि भाषा-प्रगति के दो मुख्य रूप होते हैं—(१) मस्तिष्क सम्बन्धी क्रियाओं के वेग-सूचक विचारात्मक रूप (२) तत्प्रेरित एवं प्रतिफल रूप वाह्यांगों की क्रियाओं या गतियों का व्यक्त रूप। या यों कहिये कि भाषा के दो रूप प्रधान हैं :—इन दोनों में—(१) मानसिक या आभ्यंतरिक (Physical) (२) शारीरिक (आंगिक) या वाह्य—वही सम्बन्ध है जो मन, मस्तिष्क, शरीर तथा तदंगों में है। ये एक दूसरे के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध, एवं सहचारिता का भाव रखते हैं, दोनों एक दूसरे से प्रेरित एवं उत्पन्न होते हैं। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। हाँ यह हो सकता तथा होता ही है कि हम एक को दबा कर दूसरे को प्रधानता दे दें और एक को प्रगट तथा अप्रगट रख दूसरे ही को प्रधानतया स्पष्ट करें।

यह भी स्पष्ट है कि शब्द, उनका संयोजन एव जन्म, मनोगत स्वतंत्र विचारों की मालिका का आवश्यक विश्लेषण एवं संयोजन है (Analysis and Synthesis) यह भी सही है कि अमूर्त या भाव-प्रधान अचित्रोपम विचार बिना किसी प्रकार की आंगिक चेष्टाओं के ही चलते हैं। किन्तु यह विषय भी विवाद-

पूर्ण है और अभी तक सुलझ कर निश्चित रूप से स्पष्ट नहीं हुआ। कुछ लोगों का विचार है कि कोई भी विचार या शब्द अमूर्त नहीं, सब किसी न किसी प्रकार की मूर्ति अवश्यमेव मस्तिष्क में खींचते हैं, चाहे शब्द व्यापक, साधारण, या विशेष व्यक्तिबोधक और असाधारणादि में से कुछ ही क्यों न हो। जब कोई भी विचार या शब्द मन में उठता है तभी तदुपयुक्त एक आंगिक क्रिया भी उठती है, चाहे वह व्यक्त रहे या अव्यक्त, अपने वाह्यरूप में प्रगट हो या आन्तरिक रूप में ही बनी रहे। यह इसी-लिये कहा जाता है कि मन, मस्तिष्क, शरीर तथा तदंगों का बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। इस विचार से भाषा के यों दो रूप हो जाते हैं (१) भावात्मक और (२) रूपात्मक—(ध्वन्यात्मक तथा संकेतात्मक)। नाद-यंत्रों के उत्तेजित एवं क्रियमाण होने पर भाषा का ध्वन्यात्मक रूप उत्पन्न होता है और स्वरों एवं व्यंजनों की उत्पत्ति होती है जो भाषा की मुख्य मौखिक या नादात्मक सामग्री है। भिन्न २ नाद-यंत्रों के क्रमानुसार ताड़ित होने पर भिन्न भिन्न प्रकार के स्वर एवं व्यंजन उत्पन्न होते हैं, जिनका वर्गीकरण बड़े ही वैज्ञानिक एवं स्वाभाविक ढंग से हमारे प्राचीन तत्वज्ञाचार्यों ने किया है (कंठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठादि के द्वारा व्यक्त होने वाले वर्ग) मनोगत शब्द चित्रों के सहगामी क्रियात्मक तत्व तथा इन दोनों का सम्बंध व प्रारस्परिक प्रभाव ही ध्वन्यात्मक भाषा तथा तत्प्रकाशक संकेतों एवं चिन्हों (अक्षरों) का आधार या निमित्त कारण है।

सारांश यह कि भाषा का बहुत प्राचीन एवं प्रारम्भिक रूप क्रियात्मक तथा आनुकरणिक चेष्टात्मक है (आँगिक चेष्टात्मक)। स्वाभाविक चिन्ह (संकेत, आनुकरणिक लक्षणादि) स्वभावतः ही अपने सूचक पदार्थों (वहिरंग या अन्तरंग) से समानता रखते हैं तथा उन्हें प्रगट करते हैं। ध्यान रहे कि संकेतात्मक चेष्टायें वास्तव में भाषा के अन्दर नहीं, वे चिन्ह स्वाभाविक है अवश्य, परन्तु भाषा के शुद्धार्थ में नहीं लागू होते, हां प्रसंग वश वे भाषा के अन्तर्गत हो भी जाते हैं। इससे सम्बन्ध रखने वाली संकेतात्मक भाषा, जो मनोविज्ञानानुसार सब से अधिक स्वाभाविक और प्रारम्भिक है प्रकृति जन्य और समय की आवश्यकतानुसार शीघ्र उत्पन्न होने वाली है। साथ ही वह बहुत ही शीघ्र व्यापक और परंपरागत रूप में हो कर एक समाज के मनुष्यों में फैल जाती है, क्योंकि यह मनुष्य की अनुकरण करने वाली नैसर्गिक मनोवृत्ति से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है तथा उसीसे निकलती और उसी में उत्तेजना या जागृति उत्पन्न करती है। आगे चलकर यही अभीष्ट इच्छा-जन्य भाषा चिन्हों (शब्दों तथा वर्णों) के लिये पथ तैय्यार करती है। जिनकी सहायता से फिर एक सर्वसाधारण एवं परंपरित भाषा बन जाती है, जिसका सभी आदमी व्यवहार करने लगते हैं और इस प्रकार वह प्रचलित हो जाती है। भाषा के व्यापक तथा प्रचलित होने में "अनुकरण वृत्ति" का प्राधान्य तथा आवश्यकानिवार्य प्राचुर्य रहता है । चेष्टाओं तथा संकेतों के

अनुकरण से चल कर भाषा सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक हो परंपरागत सिलसिले के रूप में परिवर्तित हो जाती है। जिह्वात्मक या नादात्मक स्वर-व्यंजनादि जिस प्रकार स्वाभाविक कहे जा सकते हैं उसी प्रकार उनके लिखे जाने वाले रूप नहीं, क्योंकि ये स्वाभाविक न होकर कृत्तिम हैं। उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि वे केवल सर्व मान्य शब्दों या वर्णों के स्पष्ट प्रकाशक चित्र या चिन्ह हैं और उनके द्योतक प्रतिनिधि हैं। इनके विस्तृत रूप से प्रचलित होने में बहुत समय तक कठिन प्रयास हुआ होगा। यह अवश्य है कि उनको बहुत कुछ सहायता चित्र या आलेख्य के प्रयोग तथा उनकी रीति-नीति से प्राप्त हुई होगी।

शब्दों के अर्थों तथा भावों के निश्चित होने में (अमुक २ अर्थ में अमुक शब्द प्रयुक्त होता है तथा होना चाहिये) समाज के मत-बाहुल्य की स्वीकृति ही एक प्रधान कारण है तथा मनुष्य की अनुकरण वृत्ति उसकी सहायक हो उसके प्रयोग-प्रचार को प्राचुर्य एवं प्रावल्य के साथ ही साथ, स्थैर्य और व्यापकता प्रदान करती है। हाँ यह अवश्य है कि रुचि-वैचित्र्य तथा परिवर्तन के नियम अपना अपना प्रभाव भाषा के ऊपर भी अच्छी तरह डालते हैं और भाषा में भेद तथा परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। हां यह बात भाषाओं में अवश्य देखी जाती है कि जहां अर्थ अंशतः समान होते हैं वहां उन अर्थों के सूचक शब्द भी अंशतः समान होते हैं और जहां अर्थ किसी प्रकार

पृथक होते हैं वहां उनके प्रकाशक (शब्दादि) भी पृथक से होते हैं। देखो माँ, माता, मइय्या, मामा— (Mama) मादर मदर आदि में मा वर्ण समान है क्योंकि इन सब का अर्थ समान है। प्रायः सभी भाषाओं के मूल तत्व, (धातु) तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर, समानता लिये हुये मिलते हैं, हां देश, काल, भौगोलिक परिस्थितियों तथा विचार-धाराओं की विभिन्नता के कारण उनके विकाश-विस्तार में विभिन्नता सी आ जाती है। इसी प्रकार लिपि में भी परिवर्तन तथा पार्थक्य का आगमन होता है।

भाषा के दो रूप और होते हैं— परंपरित (परंपरागत) जो हमें अपने पूर्वजों से एक स्वाभाविक तथा पैतृकार्जित संम्पत्ति के रूप में प्राप्त होती है। प्रत्येक बच्चा इसे अपने माता-पिता से स्वभावतः ही प्रात कर लेता है और फिर उसमें समय के प्रभाव एवं सम्पर्क से विकाश प्राप्त करता है। इस विचार से भाषा एक सामाजिक भाव प्रकाशन-रीति है। हम जिस समाज में रहते हैं उसकी भाषा हमारी सम्पत्ति के समान हमें स्वतः प्राप्त हो जाती है। बच्चा शीघ्र ही अपनी सामाजिक या मातृ भाषा को समझने तथा बोलने लगता है, कारण यह है कि जन्म से ही उसके मन मस्तिष्क में उस भाषा का अंकुर विद्यमान था, वही आगे चलकर सम्पर्क-सम्बन्ध से निखर बिखर जाता है। बिना समाज के भाषा का जन्म या परिवर्धित विकास हो ही नहीं सकता। भाषा,

समाज के मस्तिष्क के विचारों की प्रकाशन-शैली है। इस परंपरागत रूप से भाषा संरक्षित रह कर निश्चित रूप से स्थिरता के साथ आगे चलती है। इसी कारण भाषा हमें एक नैसर्गिक गुण के रूप में हमारे जन्म के साथ ही प्राप्त हो जाती है। भाषा में स्थैर्य रखने के लिये व्याकरण तथा अन्य प्रकार के नियम बनाये जाते हैं और यह प्रयत्न किया जाता है कि जहां तक हो सके भाषा का एक ही रूप तथा प्रयोग रक्खा जाये, उसमें परिवर्तन तथा नवीनता न आने पावे नहीं तो वह सुव्यक्त और सुवोधन न रहेगी। (२) दूसरा रूप उसका व्यक्तिगत है—प्रत्येक व्यक्ति अपने नाद-यंत्र, रुचि, चेष्टायें, इंद्रियादि दूसरे से पृथक सा रखता है (हां उनमें एक व्यापक समानता अवश्य रहती है) इन सब का साहचर्य भी पृथक व्यक्तिगत और विचित्र होता है, प्रत्येक मनुष्य की आवाज़ उसके बोलने, सोचने तथा आत्माभिव्यंजन के ढंग अपने और विशेष रूप से पृथक होते हैं। इन सब की पृथकता के कारण भाषा में बहुत कुछ पार्थक्य आ जाता है, कह सकते हैं प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्ति गत भाषा पृथक रखता है।

प्रत्येक व्यक्ति भाषा के उत्पन्न करने में स्वतंत्र है, यह वात भ्रम मूलक है और मान्य नहीं। भाषा को वह समाज-संसर्ग, अनुकरणादि से सीखता है, हाँ उसका उपयोग वह कुछ अपनी स्वतंत्र सत्ता एवं महत्ता के कारण अपनी ही शैली से अवश्य कर सकता है तो भी उसे सदैव समाज-स्वीकृत भाषा तथा तद्रूपों का

ध्यान रखना और उसका उचित उपयोग करना ही पड़ता है।

(भारत में भाषा की उत्पत्ति ईश्वरेच्छा से मानी गई है, वह श्रुत है, भगवान के मुख से मुखरित होकर मनुष्यों के द्वारा आकाशवाणी आदि के समान सुनी गई है। उसका कोई जन्म-काल नहीं, वह एक दैवी दान है। संस्कृतभाषा दैवी भाषा या देव-वाणी कहलाती ही है। समाज-शास्त्र के पंडितों का मत है कि आरंभावस्था में मनुष्यों ने मिलकर सर्व सम्मति से इसका रूप निश्चित किया और इसे जन्म दिया। किन्तु ये दोनों सिद्धान्त आजकल सर्वमान्य नहीं रहे। विकासवादी अपने विकास-सिद्धान्त के अनुसार भाषा को भी विकासित हुआ मानते हैं। मनुष्य ज्यों २ सभ्य हुये, उनके अंग प्रत्यंगादि ज्यों २ विकसित, परिवर्धित और पूर्ण होते गये त्यों ही त्यों भाषा का भी उत्तरोत्तर विकास होता गया। भाषा का प्रारम्भिक रूप अव्यक्तनाद है, जो आनुकरणिक तथा स्वाभाविक है, संकेतादि से संभूत हुआ था इसीसे धीरे धीरे विकसित होकर भाषा इस रूप में आगई है। यह विषय बड़ा ही गूढ़ एवं गंभीर है तथा बड़ी विस्तृत विवेचना चाहता है जो यहाँ अनुपयुक्त एवं प्रसंगा-पर है। इसीलिये हमने संक्षेप में कुछ मूल २ बातें इस संबध में देकर इसपर थोड़ा सा प्रकाश डाला है। पाठक इसके लिये भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान एवं भौतिक मनोविज्ञान में भाषा की उत्पत्ति और विकास के अध्याय देख सकते हैं।

शब्द और अर्थ।

हम जानते हैं कि एक, दो या इनसे अधिक स्वरों एवं व्यंजनों की ध्वनियों के संयोग से शब्द बनते हैं। अब यह देखना है कि इन शब्दों को अपने अपने अर्थ या भाव जिन्हें ये सूचित या प्रकाशित करते हैं कहाँ से, कैसे और कब प्राप्त हुये। शब्दों के विषय में हमने बहुत कुछ अन्यत्र कहा है, यहाँ हमें बस थोड़ा ही और कहना है। हम देखते हैं कि शब्द मुख्यतः (व्याकरणानुसार) तीन प्रकार के होते हैं—(१) संज्ञा (२) क्रिया (३) अव्यय। अव्ययादि तो केवल संयोजन, विभाजन तथा अन्य और प्रकार की सहायता का काम देते हैं, इनका शब्द-समूह में कोई बहुत ऊँचा स्थान नहीं है। क्रिया—सूचक शब्द केवल कार्य के होने या करने की सूचना देते हैं या किसी की सत्ता अथवा दशादि को प्रगट करते हैं। संज्ञाबोधक शब्दों को हम महत्व देते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा हम प्रधानतया अपने आन्तरिक जगत के रहस्य (विचार, भाव, कल्पना आदि) तथा बाह्य जगत के पदार्थों को सूचित या व्यक्त करते हैं, ये ही उनके सच्चे प्रतिनिधि, संकेत अथवा निश्चित चिन्ह हैं। संज्ञाबोधक शब्दों को हम मुख्य २ निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—१. पदार्थबोधक (समूर्तशब्द) (२) भाववाचक (अमूर्त शब्द) (शब्दों के और दूसरे

भेद इन्हीं के अन्तर्गत हैं अतः हमने उन्हें यहाँ नहीं दिया, हाँ अन्यत्र दिखा दिया है)। भाववाचक शब्द तो मानसिक भावों को, जिनके चित्र नहीं होते और जो अमूर्त होते हैं, प्रगट करने के लिये भावनाओं के वेगों तथा गुणों के अनुसार कल्पित कर समाज की सर्व सम्मति (या मतवाहुल्य) से अपने विशेषार्थों के लिये निश्चित और मान्य कर लिये जाते हैं और उनका प्रयोग उन्हीं निश्चित भावों के प्रगट करने के लिये समाज में प्रचलित हो जाता है। ऐसे शब्द प्रायः दो प्रकार के होते हैं (१) कठिन और तीव्र मनोवेगों तथा भावों को प्रकाशित करने वाले—ऐसे शब्द तीव्र, कठिन, सवेग, भारी और बल या ज़ोर वाले होते हैं, उनके बोलने में नाद-यंत्रों से बल पूर्वक प्रयत्न करके वायु को बाहर फेंकना पड़ता है और उन्हें महाप्राण या घोषवान करना पड़ता है, जैसे क्रोध, रुद्र, भीषण, प्रचंड, हाहाकार आदि (२) मधुर, मंजुल और मृदुल शब्द—ये शब्द कोमल तथा मंजुल भावनाओं एवं भावों को प्रगट करने के लिये रक्खे जाते हैं, इनके बोलने में साधारण एवं सरल प्रयत्न करना पड़ता है—जैसे—दया, करूँगा, सरस, सुन्दर आदि, इनके वर्ण, कठिन शब्दों के विपरीत, कठिन वर्णों की अपेक्षा सरल, सुन्दर, सुखद और कोमल रखे जाते हैं। ध्यान रहे कि भाववाची शब्दों का विकास तथा प्रयोगादि मानसिक-विकास तथा सामाजिक सभ्यता के विकास का सदैव मुखापेक्षी है। बच्चे, इसीलिये इनका प्रयोग बिलकुल ही नही करते, वे शनैः शनैः अपने मानसिक विकास के

परिवर्धित होने पर सम्पर्क एवं साहचर्य के कारण समाज के सभ्य एवं विकासप्राप्त व्यक्तियों से इनके रूप और प्रयोग सीखते एवं समझते हैं। जितना ही मानसिक विकास अधिक और परिमार्जित होता है उतनाही भावात्मक शब्दों के प्रयोग का प्रचुर्य एवं प्राधान्य भी प्राबल्य तथा बाहुल्य के साथ होने लगता या होता है। अब लीजिये पदार्थ-बोधक शब्दों को, और तनिक विवेक के साथ बिचार कीजिये, ऐसे पदार्थ-बोधक संज्ञा शब्द बाह्य जगह के प्रत्यक्ष किये गये (ज्ञानद्रियों के द्वारा अनुभवित हुये) पदार्थों के संकेत (जिह्वा-जन्य मौखिक संकेत) या चिन्ह हैं, और उन्हीं को सूचित तथा प्रकाशित करते हैं। इनकी उत्पत्ति कई प्रकार से होती है:— (१) कुछ तो पदार्थों के गुणों के आधार पर निश्चित किये जाते हैं, जैसे—गुण-बोधक शब्द (२) कुछ पदार्थों के कार्यों के अनुकारणाधार पर निर्मित एवं निश्चित होते हैं, जैसे छछूंदर, झन्कार, झाँझ, मृदंग, टिटिहिरी आदि। इसी प्रकार और भी भेद हो सकते हैं परन्तु वे एक न एक प्रकार से इनके ही अन्दर आ सकते हैं।

अब यह भी हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है कि बच्चा प्रथम ध्वनियों के व्यक्त करने का अभ्यास करता है और उन्हीं का बारम्बार अनुकरण करता है, जिससे उनमें सफल होकर वह आगे बढ़ता है और अभ्यास की हुई उन्हीं ध्वनियों की पुनरुक्ति या आवृत्ति करता हुआ अपने आप अपने लिये शब्द बनाता है (यह स्वाभाविक बात है कि हमें एक ही ध्वनि की आवृत्ति या

पुनिरुक्ति कुछ विशेष रोचक तथा रुचिर प्रतीत होती है क्योंकि हमें उच्चार-प्रयास एवं प्रयत्न में सरलता मिलती है और साथ ही बारबार नाद-यंत्र को दूसरे प्रकार नहीं प्रेरित करना पड़ता) जैसे चाचा, मामा, काका, दादा, लाला, नाना, नानी, मामी, आदि। यह भी हम जानते हैं कि स्वरों का उच्चारण स्वाभाविक, सरल और अवश्यम्भावी है, अतः बच्चा स्वरों का अभ्यास जन्म ही से प्राप्त करता है, उसे रोने और सिसकने आदि से ही स्वरों का अभ्यास हो जाता है अतः वह उन्हे बड़ी सरलता तथा स्वभावतः ही बोल लेता है। उसके बहुत से शब्द स्वर तथा व्यंजन युक्त होते हैं, जैसे अम्मा, माई, दादी, दाई, बाबा, जीजी, बीबी, जीजा, ताऊ, आदि। इसके साथ उसकी भाषाज्ञान की पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त की हुई शक्ति सदैव सहायता करती रहती है और वह अनुकरण-द्वारा भाषा को बड़ी शीघ्रता के साथ सीख सकता है।

नोट:—ध्यान देने की बात है कि हमारे प्रकृति-मर्मज्ञ ऋषियों ने कितने स्वाभाविक ढंग के साथ इन सब नैसर्गिक नियमों एवं मर्मों को मनन करके स्वर-व्यंजनादि के वैज्ञानिक और सरल-स्पष्ट वर्गीकरण के साथ ही साथ, शब्दों की कैसी सुन्दर स्वभाविक रचना की है। उन्होंने मनोवृत्तियों, तथा प्राकृतिक मर्मों का सारा रहस्य खोजकर खूब समझ लिया था। संस्कृत में एकाक्षरीय सार्थक शब्दों से प्रारम्भकर उन्हों ने बड़े बड़े रूढ़ि, योगिक, और संयुक्त शब्द उठाये हैं। यह भी ध्यान देने की बात हैं कि शब्द-निर्माण , शब्दोंच्चार

तथा शब्द-प्रयोग में सूक्ष्म एवं सरल करने का सिद्धान्त स्वाभाविक रूप से सर्वत्र चरितार्थ होता है, इस सिद्धान्त का बड़ा गहरा तथा प्रचुर प्रयोग मिलता है। बोली में तो हम स्वभावतः ही सरलोच्चार वाले शब्द बोला करते हैं। वर्ण-साम्य एवं तत्पुनरुक्ति-सारल्य पर ही अनुप्रास की सारी अट्टालिका समाधारित है।

बढ़कर बच्चा विविध वर्णों के शब्द अनुकरण-साहाय्य से जानने लगता तथा प्रयुक्त करने लगता है। विद्वान शब्द-रचयिता लोग भी इसका अनुकरण तथा सहारा लेते हैं, वे एक शब्द के समान दूसरे और शब्दों की भी कल्पना करते हैं। जैसे दलदल, चलदल, मलमल, खटमल, एवं अन्य वर्ण-साम्य या तुकान्त वाले एक से शब्द।

इस प्रकार जब कुछ रूढ़ि संज्ञा सूचक शब्द बन कर प्रचलित हो जाते हैं तब दो दो को मिलाकर यौगिक और योगरूढ़ि शब्द बनाये जाते हैं, तथा उनके अर्थ सर्व सम्मति, प्रयोग-बाहुल्य एवं प्रचार-प्राचुर्य से निश्चित और निर्धारित हो जाते हैं। जैसे सुधाकर, वनमाला, पानीपाँडे, दिनपति, आदि।

इस तरह शब्द-समूह के बन जाने पर दो दो, चार चार या अधिक शब्दों को (आवश्यकतानुसार) एक साथ रखकर विचार-समिष्टि का प्रकाशन किया जाता है और वाक्यों आदि की सृष्टि चल खड़ी होती है।

भाषा और शब्द अनादि हैं। क्योंकि "शब्दैव ब्रह्म" शब्द ही ब्रह्म है जो आद्यन्तहीन है। शब्द गुण आकाश का है ("शब्द

गुणमाकाशम्") और आकाश वह प्रधान तत्व है जो विभु हो नाश एवं आद्यन्तहीन है, शब्द अक्षरों से बनते हैं, जो नाश-नहीं होते वे अक्षर हैं "न क्षरन्ति ये ते अक्षराः" अतः स्थूल रूपसे शब्द आदि-अन्त-विहीन हैं और कभी भी नाश नहीं होते। ब्रह्मरूप होकर वे शक्ति सम्पन्न—और ज्ञान के अधिकरण या आधार हैं अतः वे भावों, विचारों एवं अर्थों आदि से व्याप्त हो पूर्ण हैं। वे धातुओं से निकले हैं और धातुओं में अर्थों का कोष है, वे अनेक अर्थ रखती हैं—"धातूनाम अनेकार्थत्वात्" अतः शब्द भी अर्थ के आगार हैं—"शब्दाः कामधेनवः"। शब्द ज्ञानमय हो उस वेद के आधार हैं जो श्रुति तथा दैवी है और केवल सुना गया है—अतः शब्द भी श्रुत (निर्मित नहीं) तथा दैवी हैं—

इस सिद्धान्त के अनुसार शब्दों को अर्थ तथा जन्म ईश्वर ने ही अनादि काल में सर्वदा के लिए दे दिया है। उन्हें किसी ने (व्यक्ति विशेष या सभा आदि ने) रचा या बनाया नहीं, न उन्हें अर्थ से संयुक्त ही किया है। इसी प्रकार भाषा का भी हाल है। वह भी दैवी तथा श्रुत है—जैसा ऊपर कहा गया है।

भारतीय मत

इसी प्रकार भाषा से सम्बन्ध रखने वाले अन्यान्य सभी विषयों,—व्याकरण, छंद या काव्य, निरुक्तादि—तथा समस्त ज्ञान को भारतीयों ने ब्रह्म से ही निकला हुआ माना है क्योंकि ब्रह्म को वे ("यः ज्ञानस्य परमावधिः सः ब्रह्म") समस्त ज्ञान की परम अवधि,, मर्यादा या सीमा मानते हैं। साथ ही ज्ञान को आत्मा में उपस्थित देखते हैं, चाहें वह किसी भी रूप में रहे, क्योंकि वे आत्मा को ज्ञानाधिकरण कहते ("ज्ञानाधिकरण-मात्मा") और मन में युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति का लक्षण देखते हैं—("युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् ")।

यह विषय बहुत ही गूढ़, गंभीर तथा खोज-पूर्ण है, साथ ही विवाद-ग्रस्त भी है। प्रसंगवश हमें इसे संक्षेप रूप से यहाँ लिखना पड़ा, यद्यपि यह हमारे विषय से बहुत परे है, हाँ हमारा विषय इसका एक अंग अवश्य है। विस्तार-भय से हम इसे यहाँ छोड़ रहे हैं। अब हमें शब्द और उसकी अर्थ-शक्ति के विषय में कुछ मुख्य २ बातें कह देनी हैं।

शब्द और अर्थ शक्ति ।

यह हम कह ही चुके हैं कि शब्द भी एक प्रकार के भाव-प्रकाशक मौखिक संकेत या नादात्मक इशारे हैं। समाज-शास्त्रज्ञ शब्दों के अर्थों को समाज की सर्व सम्मति एवं व्यापक प्रचार की प्रचुरता से निश्चित या निर्धारित मानते हैं। शब्दों तथा उनके अर्थों में परिवर्तन समाज की सर्व सम्मति एवं सर्व साधारण के प्रयोग-प्रचार से होता है। समाज तथा उसके बड़े २ विद्वानों के द्वारा नवीन शब्दों का जन्म, कुछ प्राचीन और घिसे घिसाये शब्दों का सुधार (संस्कार, परिमार्जन आदि) तथा वहिष्कार भी होता रहता है। समाज या उसके विवेकी विद्वानों के द्वारा भाषा का भी शब्दों के साथ ही साथ संस्कार, सुधार एवं परिमार्जन होता है और भाषा के दो रूप (१) साहित्यिक तथा (२) लौकिक (बोली) हो जाते हैं। इनमें भी आवश्यकतानुसार पारस्परिक विनिमय, आदान-प्रदान तथा परिवर्तन होता रहता है। देश, काल, परिस्थिति तथा सामाज की रीति-नीति के विकारों से इनमें रूपान्तर आ जाता है।

हमारे भारतीय विद्वान (संस्कृतज्ञ) इसे इस प्रकार नहीं मानते। वे भाषा के प्रयोगात्मक दो रूप करते हैं—(१) वैदिक

(२) लौकिक। वैदिक भाषा नित्य और परिवर्तन से परे मानी जाती है—वह दैवी है । लौकिक भाषा के दो रूप होते हैं—(१) संस्कृत—शुद्ध और परिमार्जित की हुई साहित्योपयुक्त एक भाषा (२) ग्रामीण (प्राकृत) या बोली जाने वाली साधारण भाषा। इन दोनों में परिवर्तन का नर्तन वे भी मानते हैं, परन्तु संस्कृत में बहुत कम परिवर्तन, जो प्रायः न होने ही के बराबर है, देखा जाता है, वह भी दैवी होकर एक निश्चित रूप वाली है, और नित्यता की छाप रखती है, जिससे कम से कम साहित्यिक क्षेत्र तथा उसकी भाषा में एक रूपता और समता सदा के लिये आ जाती है।

शब्दों की अर्थ-शक्ति के विषय में भी बहुत से विवाद-ग्रस्त मत हैं, विशेषतः हमारे यहां, नैय्यायिक, वेदान्ती, मीमांसानुयायी तथा बौद्ध पृथक २ चार सिद्धान्त देते हैं। उनकी विवेचना यहाँ उचित नहीं; हाँ सारांश रूप में यह कह देना अनुचित न होगा कि यह शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है, उसी की इच्छा से शब्द अपने अर्थ को स्पष्ट करता है । इस प्राचीन सिद्धान्त को कुछ लोग अंशतः मानकर इस रूप में रखते हैं कि इच्छा ही शब्दों को अर्थ-शक्ति देती है, वह इच्छा मनुष्यों की ही है, हां वह ईश्वरेच्छा से प्रेरित हो सकती है। यह अर्थ-शक्ति शब्द और तत्सूच्य पदार्थ का सम्बन्ध व्यक्त करती है और उस पदार्थ की स्मृति में उत्तेजना देती है।

इस शक्ति के पृथक २ चार मुख्य रूप माने गये हैं (१) केवल

जाति (२) केवल व्यक्ति (३) जाति विशिष्ट व्यक्ति (४) अपोह और ये रूप क्रमशः मीमांसा, उत्तरन्याय, पूर्वन्याय और बौद्धों के दिये हुये हैं । इनके द्वारा क्रमशः जाति-व्यापकता, व्यक्ति-वाचकता, जाति-सूचक विशेष व्यक्ति-वाचकता तथा पार्थक्य-सूचक लक्षण या गुण की विशिष्टता को प्राधान्य दिया गया है। अब प्रत्येक शब्द में कम से कम दो प्रकार के अर्थ होते हैं, (१) मूल एवं वास्तविक तथा सीधा (Direct) (२) गौण, इष्टार्थ (इच्छा प्रदत्त), सूच्य तथा विशेष । शब्द के जाति-व्यापक तथा व्यक्ति-व्यापक अर्थ केवल इच्छा-प्रेरित हैं, और वक्तादि के प्रदत्त होते हैं, क्योंकि एक जाति-बोधक व्यापकार्थ युक्त शब्द व्यक्ति-बोधक और एक व्यक्ति-सूचक शब्द जाति-वाचक बना लिया जाता है। कह सकते हैं और ऐसा कहा भी गया है कि वास्तव में शब्द सभी व्यक्ति-बोधक ही होते हैं। यह मत आधुनिक नैय्यायिकों तथा पाश्चात्य विद्वानों जैसे वार्कले, लाक आदि का है ।

जिस सम्बन्ध के प्रभाव से शब्द अपने सूच्य पदार्थ को व्यक्त करता है उसे वृत्ति सम्बन्ध या शक्ति कहते हैं। इसके दो भेद—(१) अभिधा (शब्द का स्पष्ट प्रकाशार्थक तथा संकेतार्थक शब्द के नित्य तथा सत्यार्थदायिनी शक्ति (२) लक्षणा, (जिसमें व्यंजना भी आ जाती है) प्रथम की अविद्यमानता में उसी से निकलकर तथा उसी पर आधारित रहकर इष्टार्थ को सूचित करने वाली है—होते हैं। इन दोनों के पृथक २ यथाक्रम,

योगिक, रुढि, और योगिरूढ़ि (अभिधा के) तथा जहत्, अजहत् और जहदजहत एवं लक्षित तथा रूढ़ या शुद्धा, गौणी या प्रयोजनती आदि भेद माने गये हैं, लक्षणा में सूच्यार्थ बोधक शक्ति, व्यजना में व्यंगार्थ बोधिनी शक्ति है।

इन सब शक्तियों को हम (१) व्याकरण, (२) शब्दतुलना (उपमादि) (३) कोष (४) आप्त (मान्य शिष्टार्य लोग) (५) प्रयोग (६) प्रसंग (७) समानार्थ सूचक या पर्याय वाची शब्द (८) साहचर्य या सहकारिता, तथा इनके साथ (९) आंगिक संकेतादि को भी लेकर ९ प्रकार से प्राप्त करते हैं।

शब्दों से मिलकर वाक्य बनते हैं। कई शब्द मिलकर एक विशेषार्थ के स्पष्ट करने के लिये तीन अन्य प्रकार की शक्तियों की सहायता चाहते हैं। वे शक्तियाँ क्रमशः ये हैं—(१) आकांक्षा—जिज्ञासा तथा व्यक्त करने की इच्छा हैं—यह शब्द के यथार्थ रूप पर आधारित रहती है, बिना इसके शब्द मिलकर भी अर्थ नहीं प्रकट कर सकते, क्योंकि इसी के द्वारा उनकी कमी पूरी की जाती है, और उस कमी की पूर्ति होने पर ही शब्द-माला अपना अर्थ स्पष्ट कर सकती है। (२) योग्यता:—यह उपयुक्त तथा अविरोधी शब्दों के सम्मिलित रूप में रहने वाली शक्ति है। एक शब्द तभी दूसरे के साथ योग्यता रखता हुआ कहा जाता है जब दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं होते—शब्द योजना में इसका बड़ा प्राधान्य एवं महत्व है। (३) संनिधि शक्ति या आसत्ति—इसके प्रभाव से शब्द एक साथ आकर

क्रमानुसार अपना अपना उपयुक्त अर्थ व्यक्त करते हैं—इसके लिये उचित है कि शब्दों की व्यवस्था यथाक्रम तथा उपयुक्त स्थान में बिना किसी व्यवधान (समय, स्थान तथा अन्य प्रकार के व्यधान के) के की जावे, शब्दों की अवली, गति या धारा अवाध और अभंग रहे। पंडितप्रवर बिश्वनाथ इन तीनों के साथ एक और आवश्यक शक्ति रखते हैं। उनका मत है कि इन तीनों के रहने पर भी बिना इस चौथी शक्ति के, जिसे वे "(४) तात्पर्य-ज्ञान" कहते हैं, अर्थ का यथार्थ बोध नही होता। यह तात्पर्य-ज्ञान वह ज्ञान है जिससे वक्तादि की इच्छा या उसका अभिप्राय ज्ञात होता है और जिसके जानने ही से हम उसके शब्दों का यथार्थ अर्थ या भाव समझ सकते हैं— "मधु लाओ" इससे मधु का अर्थ तब तक नहीं ज्ञात होता जब तक हम यह नहीं जान लेते कि मांगने वाले का तात्पर्य शहद से है, क्योंकि मधु कई अर्थ रखता है ("मधु वसंत, मधु चैत है, मधु मदिरा, मकरंद") और यह तापर्य हमें देश, काल एवं परिस्थिति, जिनमें वक्ता की सत्ता है और जिनका पूरा प्रभाव उस पर है तथा जिनसे प्रेरित होकर ही वह अपने भाव व्यक्त करता है, ज्ञात होता है। इस प्रकार हमारे भारतीय विद्वान् इस विषय में अपना मत देते हैं।

लेख और तदावश्यकता

हम प्रथम ही कह चुके हैं कि जिज्ञासा तथा आत्माभि-व्यञ्जन वृत्तियों की प्रेरणा से मनुष्य अपने को दूसरों पर प्रगट करना चाहता है और एतदर्थ वह भाषा का सहारा लेता है। हमने ऊपर भाषा के दो मुख्य विभाग किये हैं (१) संकेतात्मक—जिसमें आंगिक संकेत, चेष्टायें तथा मुखाकृतियां, चित्र तथा वर्णमाला के लिखे हुये अक्षरों के रूप आते हैं, जो भाव को सूचित करते हैं, तथा (२) नादात्मक या ध्वन्यात्मक व्यक्त भाषाः—जो संकेतात्मक भाषा के समान आँखों की सहायता न लेकर अपने स्पष्ट होने के लिये कानों की सहायता चाहती है तथा प्रकाशक के आंगिक संकेतों से सम्बन्ध न रखकर उसके मुख, नाद-यंत्र तथा जिह्वादि से प्रस्फुटित होती है और शब्द (ध्वनि) के रूप में हो हमारे कानों से भीतर जाकर हमें उसके भावों का बोध कराती है। हमने इस नादात्मक या ध्वन्यात्मक भाषा की कुछ सूक्ष्म विवेचना ऊपर दे दी है। यहाँ हम अब अपने गृहीत विषय से सीधा तथा प्रधान सम्बन्ध रखने वाली संकेतात्मक भाषा के चित्र-रूप का कुछ वर्णन करेंगे। हाँ, यह अवश्य पहिले कह देंगे कि इन दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध सा है, दोनों एक दूसरे के सहचर एवं अनुगामी से ही हैं, विशेषतया चित्रात्मक या संकेतात्मक

रूप तो ध्वन्यात्मक का नित्य मुखापेक्षी होता है, क्योंकि संकेतों एवं अन्य चित्रों व चिन्हों को देख कर हम अपने भीतर उनसे रचित शब्दों की ध्वनियों का अनुभव करने लगते हैं, वे शब्द हमारे भीतर अपनी २ ध्वनियों को गुँजाने लगते हैं। इसके साथ ही हम यह भी कहेंगे कि ध्वन्यात्मक रूप (मुखरित शब्द) एक प्रकार से भावों के वैसे ही संकेत हैं जैसे चित्र, चिन्ह एवं चेष्टा-संकेत। विशेष २ ध्वनियों के वे मुख से ही उच्चरित होने वाले संकेत हैं, अंगादि के चिन्हादि से नहीं।

जब हम कारण वशात् अपने भावों को नादात्मक रूप दे कर दूसरों पर नहीं व्यक्त कर सकते तब हम दूसरे रूप का सहारा लेते हैं। साथ ही जब हम ध्वन्यात्मक तथा आँगिक संकेतात्मक इन दोनों से भी अपने को व्यक्त नहीं कर सकते तब हम चित्र तथा लिखित ध्वनि-चिन्हों से सहारा लेते हैं। ऐसा हमें प्रायः तभी करना पड़ता है जब वे लोग जिन्हें हम अपने भावों से परिचित करना चाहते हैं हम से देश, कालादि के व्यवधान से बहुत दूर हो जाते हैं। तथा जब हम अपने भावों को बहुत दिनों के लिये स्थायी रूप देना तथा अपने पीछे भी अपनी अग्रिम वा भावी संतति के लिये छोड़ जाना, एवं अपने विचारों को व्यापक या विस्तृत रूप दे कर दूर तक फैलाना चाहते हैं। इन्हीं मुख्याश्यकताओं की पूर्ति के लिये हमें लिपि की आवश्यकता होती है, और इसी लिये लिपि को जन्म दिया

गया था। लिपि कब, किस प्रकार, किसके द्वारा, तथा किस रूप में बनी, इन विषयों पर कुछ बहुत निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, विद्वानों ने बहुत कुछ खोज की है, परन्तु किसी यथार्थ तथा एक सर्व मान्य पुष्ट सिद्धान्त तक नहीं पहुंच सके। अस्तु, विषय जटिल और विवाद-ग्रस्त रहकर अपूर्ण ही रह गया है। यह विषय "लिपि-विज्ञान" में विवेचना के साथ दिया गया है, विस्तार-भय से हम इसे भी यहाँ छोड़ देते हैं। हां इतना अवश्य कह देते हैं कि लिपि का आरम्भ हमारे यहाँ बहुत समय पहिले ही हुआ था (कुछ लोग इसे दैवी उपहार भी मानते हैं, इसके आविष्कारक का पूर्ण पता नहीं लगता, न इसके प्रारम्भिक समय का ही ज्ञान किसी इतिहास या खोज से उपलब्ध हो सका है। किस प्रकार इसका जन्म एवं प्रचार हुआ इस पर बहुत से सिद्धान्त एवं मत हैं। यह बात तो सर्व मान्य है कि जिस प्रकार भी इसका जन्म हुआ हो, तथा जब या जिस के भी द्वारा इसका आविष्कार हुआ हो, हुआ वह होगा चित्र एवं संकेतात्मक चिन्हों से, जो अनु करण-रूप में पदार्थों के रूप में रखे गये रहे होंगे। इसी विचार से चित्रकला का जन्म पहिले माना जाता है।

नोट :—पुरातत्वान्वेषक या प्राचीन विषयों की खोज करने वाले प्राचीन लिपि तथा प्राचीन भाषा से बहुत कुछ प्राचीन बातों, जैसे सभ्यता, उन्नति तथा ज्ञानादिका पता अपनी कलपना से लगाते हैं।

आज भी अनेक सभ्यासभ्य जातियों की लिपियाँ पदार्थों के चित्रों तथा चिन्हों से बनी हुई मिलती हैं। जैसे चीन तथा जापान की लिपियाँ। वस्तुतः यह कल्पना पुष्ट तथा सत्य ही प्रतीत होती है कि हमारी लिपि के अक्षर एक प्रकार के चिन्ह या चित्र ही हैं। सम्भवतः या वस्तुतः प्रथम ये पदार्थों के-सूचक संकेत या चिन्ह ही रहे होंगे (जैसा हमारे कोषों से स्पष्ट है क्योंकि अ, इ, उ आदि वर्ण देवताओं के चिन्ह या रूप माने गये हैं, देखो कोई कोष) पश्चात को विकास प्राप्त कर वे विशेष विशेष ध्वनियों के सूचक चिन्हों के रूपों की भाँति मान लिये गये और अबतक वैसे ही माने जाते हैं (हाँ इनके रूपों तथा इनकी आकृतियों में अवश्य परिवर्तन होता आया है) और इन्हीं से लिपि की वर्णमाला बनाई गई। लिपि के बन जाने पर ही लेखन-कला का जन्म हुआ (ध्यान देने की बात है कि लेखन शब्द का अर्थ है, चित्र लिखना तथा वर्णमाला की लिपि की साहायता से कुछ अपने भावों को भाषा में लिखना)—और भावों को मनुष्यों ने लिख कर भी व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया।

नोटः—यहाँ यह और कह देना आवश्यक है कि लिपि का जन्म होते ही लेखन का प्रचार विस्तृत रूप से नहीं हो गया था; क्योंकि उस प्राचीनाति प्राचीन काल में तथा उसके बहुत समय इधर की ओर भी इसके साधनों में उपयुक्त सुविधा नहीं थी। आजकल के समान कागज़ आदि लेखन की सामग्री तथा अन्य

सरल साधन उस समय उपस्थित न थे। कदाचित यही कारण है कि उस समय विचार-माला तथा भाव-कोष शब्द-कोष के साथ ही साथ बहुत कम, सर्वथा श्रुत तथा कंठाग्र ही रहता था। सारा साहित्य जिह्वा पर ही रहता या मस्तिक में ही लिखा जाता था। साथ ही उसका रूप कवितामय या छंदबद्ध ही था, क्योंकि कविता सरलता से याद होकर अधिक समय तक मन में जीवित रक्खी जा सकती है और संक्षेप में ही बहुत सा भाव रखकर चल सकती है। यह बात प्रायः सभी देशों में पाई जाती है। हम यह भी देखते हैं कि साहित्य को सूक्ष्म रूप सूत्रों की भी सहायता से दिया गया था। इनके लिखने, याद रखने तथा रखने में बहुत कम समय, स्थान, और प्रयास लगता है, साथ ही इन में बड़ी सुविधा तथा सरलता होती है। प्रथम पत्थरों, धातुपत्रों (ताम्र-पत्र, लौह-स्तम्भ आदि) तथा पत्तों आदि पर लिखा जाता था, इसके दो मुख्य कारण थे, प्रथम तो वे पदार्थ सरलता से प्राप्त होते थे और दूसरे उन पर लिखा हुआ चिर स्थायी हो जाता था। पुरातत्वान्वेषकों ने इस प्रकार की बहुत बड़ी सामग्री प्राप्त की है। इधर जब सभ्यता का विकास बढ़ चढ़ गया, साधन-सामग्री भी सुलभ तथा बाहुल्य रूप में मिलने लगी, तथा देश-दशादि ने लेखन के विस्तार एवं प्रचार-प्राचुर्य के लिये प्रेरणा की तब इसमें उन्नति होने लगी और हमें अब यह श्री वृद्धि प्राप्त हो गई है। लेख की आवश्यकता तथा इससे लाभ के विषय में हम संक्षेपतः

तीन बातें कह सकते हैं:—(१) इसके द्वारा तथा इसकी सहायता से हमारे स्थायी साहित्य की अट्टालिका का निर्माण होता है, और वह हमारी भावी सन्तति के लिये एक प्रकार की पैतृक-सम्पति के रूप में हो जाती है। (२) इसके द्वारा हमारे विचारों को स्थैर्य मिलता है, वे बहुत दिनों की आयु पा जाते हैं और दीर्घ समय तक अपना जीवन या अस्तित्व रख सकते हैं (३) इसी की सहायता से हमारे विचार व्यापक और विस्तृत रूप से सारे देश या संसार के सब लोगों तक पहुंच कर फैल जाते है। मनुष्यों का बहुत बड़ा समुदाय उन से परिचित हो जाता है तथा उनसे बहुत कुछ लाभ प्राप्त कर सकता है।

अब यह स्पष्ट है कि वे ही विचार या भाव लेखांकित होने चाहिये जो उपर्युक्त आवश्यकतों के अनुकूल हों तथा उसी उद्देश्य की पूर्ति करते हों, वैसे तो सभी प्रकार की मनोगत बातें लिखी जा सकती हैं। लेख का मुख्य उद्देश्य यही है कि ज्ञानानुभवपूर्ण, सर्वोपयोगी तथा उच्च सद्भाव उस के द्वारा प्रकाशित किये जावें, और एक उच्च कोटि का स्थायी साहित्य रचा जावे। आवश्यकोपयोगी विषय ही लेख के द्वारा ज्ञान, विज्ञान आदि की वृद्धि तथा जनता को ऊपर बढ़ाने चढ़ाने के लिये प्रकाशित किये जावें। जिन विचारों से विकासोन्नति की श्रीवृद्धि हो, बस वे ही प्रधानतया लेखांकित किये जावें। अपने इतिहास, अपनी सभ्यता तथा अपने ज्ञानानु-

भव-कोष को सुरक्षित रखने के लिये ही लेख रूपी सुदृढ़ तथा चिर स्थायी दुर्ग का निर्माण किया जावे।

जिससे अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि हो वैसा ही साहित्य स्थायी पूर्ति-स्फूर्ति के साथ लेखांकित किया जावे। चारित्रिक, मानसिक, शारीरिक, आर्थिक, समाजिक, नैतिक तथा धार्मिक उत्थान ही को लक्ष्यीभूत कर इन्हीं के लिये विद्वान लोग लेखों के द्वारा देश, समाज और जाति का उपकार करते हुये भावी सन्तति के लिये भी अपने ज्ञानानुभव-कोष को छोड़ जायें। यही भाषा, साहित्य, और लेखन-कला का मूल उद्देश्य है। सद्गुणों, सत्कर्मों तथा सद्धर्मों का विकाश ही इनका मुख्य लक्ष्य एवं अभिप्राय है। अतः लेख और लेखक वही हैं जो इन सब उद्देश्यों की पूर्ति स्फूर्ति के साथ करते हैं। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक अच्छे लेखक को आवश्यकता है (१) शुद्ध चरित्र, (२) शुद्ध मन तथा (३) शुद्ध ज्ञान की। बिना इन तीनों के वह कदापि अच्छा लेखक नहीं हो सकता और न उसका लेख ही अच्छा, मनोनीत प्रभाव-पूर्ण तथा लाभप्रद हो सकता है। बिना शुद्ध चरित्र के उसमें बल, ओज, प्रतिभा एवं प्रभाव नहीं आ सकता, बिना शुद्धाचरण तथा शुद्ध चरित्र के उसके मन में सजीवता, सत्यता, निर्मलता तथा बलादि दिव्य प्रभावोत्पादक गुण नहीं आ सकते, मानसिक तथा चारित्रिक विमलता मुख्य तथा सर्व प्रधान बातें हैं, और प्रत्येक लेखक के लिये अनिवार्य हैं।

शुद्ध चरित्र से विमलीकृत शरीर-मंदिर के अन्दर रहने वाले शुद्ध मन से ही शुद्ध, सुन्दर तथा सुफलप्रद भाषा एवं विचारों का उदय होता है, वही शुद्ध भावों, भावनाओं तथा कल्पनाओं की जन्मभूमि है। शुद्ध मन में ही सत्य ज्ञान का दिव्य तथा निर्मल प्रकाश होता है और अनुपम अनुभव की आभा आभासित होती है। इस प्रकार प्रारंभिक तैयारी करके प्रत्येक अच्छे लेखक को प्रथम १—भ्रमण, २—निरीक्षण, ३—सत्संपर्क या सुसंगति आदि की सहायता से अनुभव का वृहदुपार्जन करना चाहिये। साथ ही स्वाध्याय, पुस्तकावलोकन, मनन और चिन्तनादि के द्वारा अपने ज्ञान-कोष की वृद्धि करनी चाहिये। ज्ञानी और अनुभवी लेखक ही सफलता प्राप्त कर सकता है, शुद्धाचारी, और सद्गुणी होकर ही वह दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकता है।

ऐसी उपयुक्त तैय्यारी करके लेख के मुख्योद्देश्यों को ध्यान में रख उसे प्रथम अपना एक उद्देश्य या लक्ष्य बना लेना योग्य है। उसी की पूर्ति के लिये उसे अपने ज्ञानानुभव की साहाय्य से अपने लेखों में प्रयत्न करना चाहिये। जिस विषय के सम्बन्ध में वह लेखनी उठाने जा रहा है उसका उसे पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है तथा उस पर उसे मनन करना, खूब सोचना, विचारना तथा अपनी विवेक-बुद्धि के द्वारा निर्णय कर लेना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यहाँ पर हम लेखकों के, इसी विचार से तीन मुख्य भेद करते हैं :—(१) विषय-ज्ञान प्राप्त कर

उस पर ख़ूब सोच विचार करके लिखने वाले लेखक। ऐसे लेखक उत्तम श्रेणी के हैं।

(२) अपनी योग्यता पर अभिमान रखने वाले और इसी से लिखते ही समय गृहीत विषय पर सोच-विचार करने वाले लेखक—ऐसे लेखक मध्यम श्रेणी के होते हैं। (३) किसी प्रकार के लालच तथा जीविकोपार्जन के लिये ही येन केन प्रकारेण लिखने तथा मनमानी बातें बकने वाले उच्छृंखल और मूढ़ लेखक—ऐसे लेखक नीच कहलाते हैं। इसके साथ ही एक और प्रकार के भाषा-परिचित लेखक होते हैं जो ज्ञानानुभव एवं विवेक की अच्छी मात्रा न रखते हुये भी केवल दूसरे लेखकों के लेखादि का अपनी भाषा में किसी प्रकार अनुवाद कर लेते हैं। (अनुवाद, यदि अच्छी प्रकार किया जावे तो बड़े कला-कौशल तथा बड़ी गंभीर विद्वता की आवश्यकता रखता है, परन्तु ऐसे अनुवाद बहुत ही कम हैं) इन्हें हम धन-लोलुप अनुवादक या लेखक-यशप्रार्थी खर्व या अधम लेखक कह सकते हैं।

भाषा तथा उसके साहित्यिक और लौकिक दोनों रूपों और उसके यथार्थ प्रयोगों का पूरा ज्ञान रखना भी प्रत्येक लेखक के लिये न केवल प्रधान बात है वरन् अनिवार्य भी है।

लेखक के विषय में

प्रत्येक लेखक जो कुछ भी लिखता है उसके वह लिये जनता के सामने उत्तरदायी होता है। उसके ऊपर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी रहती है क्योंकि साधारण जनता उसके विचारों के ही अनुसार अपने विचार बनाती, उसके दिखाये हुये पथ पर चलने लगती तथा उसके कहने के अनुसार करने लगती है, अतः लेखक उन सभी फलों या परिणामों का उत्तरदायी है जो जनता को उस लेखक के अनुसार चलने से प्राप्त होते हैं।

उसका यह उत्तरदायित्व या उसकी ज़िम्मेदारी उस समय और बढ़ जाती है जब हम यह विचार करते हैं कि उसके लेखादि का प्रभाव न केवल विद्यमान जनता पर ही सुखद या दुःखद होकर पड़ेगा वरन् वह आगे बढ़कर भावी सन्तति पर भी पूर्ण रूपसे प्रभाव डालेगा। इसीसे प्रत्येक अच्छे लेखक के लिये यह अतीवाश्यक है अथवा यह उसका प्रधान कर्तव्य एवं गुण है कि वह (१) शुद्ध चरित्र, निर्मल मन, उच्चादर्श या उत्तमोद्देश्य रख कर उत्तम विषय चुने तथा उसी में अपने को सब प्रकार लीन-विलीन कर रँग ले, फिर अपनी बुद्धि के चातुर्य से उसमें मनोरंजकता की पुट दे। (२) ज्ञानानुभव के विशद कोष के साथ ही साथ भाषा

तथा शब्द-कोष का पूर्ण परिचय तथा तत्प्रयोग-ज्ञान प्राप्त कर वह उन पर अपना अधिकार भी प्राप्त कर ले।

(२) गृहीत विषय पर ख़ूब मनन और चिंतन कर अच्छी सुव्यवस्थित सामग्री एवं अच्छे साधन एकत्रित कर ले।

(४) अपनी शैली भी निश्चित कर उसे अपने उद्देश्य के अनुसार सदा प्रभाव-पूर्ण बनाये रखे।

ऐसा कर लेने पर ही उसके लेख में निम्न मनोनीत उत्तम गुण आ सकेंगेः—उसका लेख तभी सफलता पूर्ण कहलायेगा जब वह (१) मनोरंजक मौलिकता तथा चातुर्य-चमत्कार से पूर्ण होगा (२) सजीव भाषा एवं सुन्दर सराहनीय भव्य भावों से भरा पूरा होगा (३) प्रभाव-प्रतिभापूर्ण, सुव्यवस्थित, सरल, स्पष्ट और सुबोध होगा।

नोटः—ध्यान रहे कि लेखक के लिये यह भी आवश्यक है कि उसे अपने देश,काल, समाज तथा उनकी नीति-रीति आदि से पूर्ण परिचय प्राप्त हो। यह बात भी स्पष्ट रूप से समझ लेने की है कि लेखक का इन सब से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध रहता है और इनका उसपर बहुत बड़ा अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। लेखक अपने चारों ओर की सभी परिस्थितियों से प्रेरित तथा प्रभावित होकर ही कुछ लिखता है, उन सब की पूरी छाया उसके लेख में अवश्य पड़ती रहती है। अब यदि उसे उन सब प्रकार की स्थितियों, दशाओं एवं अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान न होगा तो वह बहुत कुछ ऐसा ऊटपटांग बक या लिख जावेगा

जिसका प्रभाव उस पर तथा जनता पर ऐसा बुरा पड़ेगा जो सर्वथा अनभीष्ट, अमनोनीत तथा हानिकारक ही है। साथ ही ध्यान रहे कि लेखक के चरित्र का चित्र भी उसकी कृति के पटल पर पूरी तरह से अंकित रहता है और उसका भी प्रभाव जनता पर पड़ता है। अतः आवश्यक है कि लेखक सब से प्रथम अपने चरित्र को शुद्ध बनावे। उसके जीवन की लीलाओं का भी प्रतिविम्ब बहुधा उसकी कृति पर रहता है, अतः जीवन के सभी पटल, उसके सभी अंग तथा सभी स्थल अच्छे होने चाहिये।

इन्हीं सब बातों के होने पर वह सफल, सराहनीय तथा प्रभावी लेखक होकर स्थायी साहित्य, समाज एवं समय में अपना उत्तम स्थान एवं साधिकार पद प्राप्त करके चिरस्मरणीय हो सकता है। उसी का अनुकरण भी उसकी जनता एवं संतति के द्वारा हो सकता है, वही पथ-प्रर्शक तथा मान्य-वदान्य नेता भी हो सकता है। देश, समाज एवं जाति को ऐसे ही लेखक बना-सुधार कर सभ्य, शिष्ट और उन्नत कर सकते हैं। ऐसे ही लेखकों से देश को लाभ पहुंचता है और स्थायी साहित्य का कोष भरा पूरा हो सकता है।

हम एक और आवश्यक बात अपने पाठकों को यहाँ बतला देना चाहते हैं और वह यह है कि ऊपर जिन तीन प्रकार के निबंधों की विवेचना दी गई है वे तो मुख्य हैं ही, साथ ही साथ

निम्न प्रकार के निबंध और हो सकते तथा होते हैं—इनको हम "मिश्रित निबंध" कह सकते हैं—:

१—कथात्मक वर्णनः—कथा की शैली से वर्णन करना ही इसका उद्देश्य है। यह कथा + वर्णन का मिश्रित रूप है, अतः दोनों के आवश्यक अंगों को रखता है।

२—कथात्मक व्याख्याः—कथा के ढंग से लिखी हुई किसी विषय की व्याख्या देना मानों कथात्मक व्याख्या करना है। यह कथा + व्याख्या का मिला हुआ रूप है—और दोनों के नियमानुसार चलती है।

३—वर्णनात्मक कथाः—इसमें कथा का उतना प्राधान्य नहीं जितना उसके वर्णनात्मक भाग का, कथा की मुख्याति मुख्य घटनाओं को देकर अन्य बातों (दृश्य, समय, देश, वेषभूषा आदि) का वर्णन इसमें तनिक विस्तृत विवरण के साथ रक्खा जाता है। यह वर्णन और कथा का मिश्रित रूप है और वर्णन को प्राधान्य देकर कथा कहता है।

४—वर्णनात्मक व्याख्याः—(वर्णन + व्याख्या) यह बहुत कुशलता और ऊँची शैली से ही लिखी जाती है। व्याख्या में वर्णनात्मक विवरण रखकर उसे मनोरंजक काव्य का रूप देना ही इसका उद्देश्य है।

५—व्याख्यात्मक कथाः—कथा को व्याख्या का रूप देना इसका मूल मंत्र है। कथा के द्वारा कल्पना, स्मृति आदि में

उत्तेजना तो आती ही है साथ ही उसमें व्याख्या की पुट दे देने से मस्तिष्क को भी आनंद प्राप्त होता है।

६—व्याख्यात्मक वर्णनः—यह वर्णन का एक व्याख्यात्मक रूप है और वर्णन को स्मृति का ही उत्तेजक न रखकर व्याख्या के द्वारा तर्क बुद्धि का भी विषय बना देता है।

कथात्मक निवन्ध

किसी कथा को निवन्ध के रूप में लिखना ही कथात्मक निवन्ध लिखना है। कथा-लेखन यों तो गद्य-काव्य के अन्दर आता है और उसके लिये विशेष नियमोपनियम निर्धारित किये गये हैं जिनसे पाठकों का परिचय हो सकेगा यदि वे हमारी "गद्यकाव्यालोक" नामी पुस्तक पढ़ेंगे। यहां पर उस कथा-लेखन से कोई भी तात्पर्य नहीं, यहाँ तो केवल छोटी २ कथाओं को निवन्ध के रूप में लिखने से ही अभिप्राय है।

कथा:—कथा का आधार सत्य घटना या काल्पनिक घटना में हो सकता है, वह पौराणिक या लौकिक भी हो सकती है। मुख्य बातें जो प्रत्येक प्रकार की कथा में अवश्यमेव रहनी चाहिये ये हैं? घटना-विकास, यह घटना-विकास भी किसी एक विशेष उद्देश्य एवं लक्ष्य के साथ होना चाहिये, ऐसा होने से कथा न केवल मन-बहलाव के लिये ही होगी, वरन् वह उपदेश-प्रद और

उपयोगी भी ठहरेगी, उसका प्रभाव पाठकों के मन-मस्तिष्क एवं चरित्र पर पड़ेगा और उनमें अपना रंग जमावेगा। अतः कथा में शिक्षाप्रद मनोरंजकता का होना महान आवश्यक है। याद रहे कि केवल उपदेशों से ही भर देना कथा का उद्देश्य न होना चाहिये, उसमें मनोरञ्जकता का होना अनिवार्य और अतीवावश्यक है, क्योंकि कथा या उपन्यासादि विचार के लिये स्वल्प भोजन का काम देते हैं, इनकी गणना साधारण एवं आनन्दप्रद साहित्य में है न कि उस गूढ एवं गंभीर साहित्य में जो मन-मस्तिष्क में उच्च और सूक्ष्म विचारों की तरल बिजलियाँ दौड़ा देता है।

अतः कह सकते है कि कथा-लेखन के उद्देश्य मुख्यतः तीन है :—

१. मानसिक कल्पना में जागृति का उत्पन्न करना।

२. घटना-विकास के द्वारा किसी अभीष्ट शिक्षा या सिद्धान्त का देना।

३. चरित्र पर प्रकाश डालते हुये मानसिक आनन्द देना।

प्रत्येक कथा में कम से कम दो बातों का अवश्य विचार रखना चाहिये, और उनके यथावत प्रदर्शन की ओर ध्यान देना चाहिये। प्रथम बात है (१) स्थापना (Setting) अर्थात् कथा या घटना की परिस्थिति, पात्र की अवस्था एवं दशा। जिस समय एवं जैसी परिस्थिति में घटना का श्रीगणेश और विकास होता है उसे अवश्य ही अच्छी तरह दिखलाया जाना चाहिये, क्योंकि उससे घटना के विकास तथा उस के प्रभाव पर बहुत गहरा

प्रकाश पड़ता है। बिना इस स्थापना के कथा का एक अंश सूना ही रह जाता है। कह सकते हैं कि जो कार्य काव्य में आलंबन विभाव से लिया जाता है वही कथा में स्थापना से। (२) इसके उपरान्त पात्र-समावेश की महत्ता है। पात्रों का ध्यान रखना भी महान आवश्यक है, क्योंकि उनका प्रभाव पाठकों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। (३) कथा को प्रभावोत्पादक एवं आनन्दप्रद बनाने के लिये उसके लिखने का ढंग या भाषा-शैली का भी बहुत बड़ा ध्यान रखना चाहिये। लिखने का ढंग यदि अच्छा और चातुर्य-पूर्ण है तो विषय चाहे कैसा ही अरोचक क्यों न हो उसमें भी रोचकता, आकर्षण और मनोहारिता आ जाती है।

कथा लिखने का ढंग

यह तो स्पष्ट ही है कि कथा में घटनाओं का वर्णन आवश्यक है और यही मुख्य विषय भी है, अतः घटनाओं को इस प्रकार रखना चाहिये कि उनकी शृंखला टूटने न पाये, वे एक के पश्चात दूसरी और दूसरी के पश्चात तीसरी इसी क्रम से एक साँचे में ढली सी हो चलती जायें, उनका तारतम्य एक सिलसिले से विकास की ओर अग्रसर होता चले। घटनाओं का क्रम स्वाभाविक और यथार्थ हो, उनमें सत्यता सी झलकती रहे, और उनकी गति इस प्रकार रहे कि हृदय बराबर उनकी ओर आकृष्ट तथा उनमें लीन-विलीन होकर उन्हीं के साथ २ बिना ऊबे हुये उत्सुकता और प्रसन्नता के

साथ चलता रहे। लालसा में कमी न आने पाये और अब क्या होगा, फिर क्या हुआ, तथा यह क्यों व कैसे हुआ आदि प्रश्नों के उत्तरों की जिज्ञासा में उत्तेजनोत्कंठा भरी रहे। इन सब के लिये आवश्यक है कि निम्न बातों पर विचार कर लिया जावे :—

(१) घटना-क्रम कैसा हो, (२) कौन सी घटनायें आवश्यक और रखने के योग्य हैं (३) पात्रों का समावेश कैसे होगा, (४) स्थापना का परिचय कैसे दिया जावेगा।

१. घटना क्रमः—१. घटना के फल को प्रथम उठाओ और फिर उसको लाने वाली घटनाओं को सकारण दिखलाओ। इस रीति का अनुसरण प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में देखा जाता है।

२. घटना को स्वाभाविक रीति से लेकर उसे फल की ओर क्रमानुसार धीरे २ ले चलो, फिर परिणाम दिखलाकर उससे कोई सिद्धान्त निकालो।

३. इन दोनों आदि और अन्त के भागों को छोड़कर कथा का मध्य भाग उठाओ और साथ ही "द्वैधी-भाव" (Suspense) की जागृति करो। पाठक एक प्रकार के कला-पूर्ण चक्कर में ही पड़ा रहे जब तक सारी क़था स्वभावतः समाप्त न हो जावे।

यदि कथा पुरानी है तो उसके परिणाम में कोई चमत्कार-पूर्ण नवीनता या यदि कथा नवीन व कल्पित की हुई है तो परिणाम को साधारण रूप में रख नवीन शैली से उसमें रोचकता प्रदर्शित करो।

२. घटनाओं का चुनावः—कथा के अन्दर बहुत सी घटनायें आती हैं, वे सभी देने योग्य नहीं होतीं, कुछ आवश्यक और कुछ अनावश्यक रहती हैं, इनमें से आवश्यक, रोचक तथा विस्मयकारिणी घटनायें चुन लो। घटनायें जो कथा का विकास करती हैं और मानसिक कल्पना को जगा कर रुचि उत्पन्न कराती हैं, सदा ही मनोनीत और आकर्षक होती हैं, उन्हें ही उठाना चाहिये। यह ध्यान रहे कि घटनायें तुम्हारे उद्देश्य एवं लक्ष्य की परिपोषक हों तथा तुम्हारी कथा श्रोताओं की भी रुचि के अनुसार हो। सदैव अपने अभिप्राय की पुष्टि करते रहो और जो घटनायें उसकी बाधक या व्यर्थ हों उन्हें छोड़ दो। तुम्हारा मुख्याभिप्राय ही पराकाष्ठा है (Climax), यही सबसे मुख्य और मनोरंजक स्थल है अतः सब घटनाओं को इसी की ओर चलाओ, बिना इसके कथा निस्सार ही रहती है।

३. पात्रों का समावेशः—१. कथा के आरम्भ में किसी चातुर्य-पूर्ण रीति से पात्रों का परिचय दे देना अच्छा होता है, इस प्रकार पाठकों के लिये मार्ग सरल और सुबोध बन जाता है। पाठक प्रथम ही से पात्रों से परिचित रहते हैं, जिससे उन्हें व्यर्थ में परिचय प्राप्त करने के लिये भटकना नहीं पड़ता।

२. कथा का जब प्रसार हो उस समय भी यह कार्य किया जा सकता है, यदि इससे कथा-विकास में किसी प्रकार की बाधा न पड़ती हो। पात्रों का परिचय देने में तुम्हारा वर्णन ऐसा हो मानो तुम चित्र खींच रहे हो, और पात्र तुम्हारे सम्मुख

खड़े हुए हैं। उनके वेषभूषादि की व्याख्या करते हुये उनके स्वभाव एवं चरित्र की ओर भी तुम्हें झुक जाना चाहिये और उन पर भी पुर्याप्त प्रकाश डालना चाहिये, क्योंकि यही प्रभावोत्पादक बात है जो कथा में अवश्य दर्शनीय है। पात्रों का चरित्र-चित्रण वार्तालाप, उनके कर्म तथा उनके विषय में दूसरे पात्रों का विचार भी कथादिकों में किया जाता है। यह अपनी कथा तथा अपने ढंग की बात है कि किस प्रकार चरित्र-चित्रण किया जावे।

४—स्थापनाः—आवश्यक और जटिल स्थापना को प्रथम ही देना अच्छा होता है। युद्ध की कथा में रण-भूमि का वर्णन युद्ध के प्रथम ही दे देना उचित और अच्छा होगा। ध्यान रहे कि इस स्थापना के वर्णन में कृत्रिमता न आने पावे, तथा इसके द्वारा तुम्हारी कथा या घटना का रस भी दूषित न हो पावे। स्थापना से रस तथा घटना को पुष्टि ही मिलनी चाहिये, अतः स्थापना का वर्णन सदा छोटा, उचित, सत्य शुद्ध, और तुला हुआ रहे, व्यर्थ की बातें सिर्फ सजावट के लिये उसमें मत भरो। परिस्थिति, देश, काल और अवस्थादि का वर्णन ख़ूब जंचा हुआ, चोखा और मार्के का हो। प्राकृतिक दृश्यों का छोटा और सजीव वर्णन भी रोचकता को बढ़ा चढ़ा सकता है, वही व्यर्थ के वर्णन-विस्तार से अमनोनीत हो जाता है।

५. कथा की भाषाः—कथा की भाषा को बहुत ही स्वाभाविक और सरल होते हुये भावमयी होना चाहिये। क्लिष्ट शब्दों का

बाहुल्य उसकी रोचकता को बिगाड़ेगा, अतः तुम्हारे वाक्यः—
१, छोटे २, सीधेसादे ३, सरल और ४, स्पष्ट हों २ वाक्य चित्रों
और मूर्तियों के खीचनेवाले हों ३ भाव खूब प्रभाव एवं महत्व-
पूर्ण हों, ४ शैली स्थल स्थल पर आवश्यकता और मौके के विचार
से बदलती रहे, जिससे भाषा और भावों में बल एवं प्रभाव-
प्रतिभा आ जावे। ५ विशेष ध्यान क्रियाओं के प्रयोग, उनके चुनने
और मुहावरे के अनुसार उनका शुद्ध प्रयोग करने में होना चाहिये,
क्योंकि क्रियायें व्यापार, कार्य, और घटनाओं को सूचित करती
हैं, जिनका ही प्राधान्य कथा में विशेष रूप से रहता है, अतः खूब
ध्यान से इनका प्रयोग करो। साधारणतः कर्तृवाच्य क्रियाओं
का व्यवहार पसंद किया जाता है और जहाँ सिद्धान्तादि की
बात हो वहां पर कर्म या भाव्यवाच्य का प्रयोग किया जा
सकता है।

वार्तालापः—(Dialogue):—कथा में इसका स्थान भी
उतनाही महत्वपूर्ण है जितना नाटक में अभिनय का, बातचीत
का रूप कथा में कुछ दूसरा ही सा रहता है, अधिकांश
कथा-लेखक इसको कथा में रखते ही नहीं, और यदि कुछ रखते
भी हैं तो इस प्रकार कि वह अपने असली रूप में नहीं रह
जाता। इसका काम दो प्रकार का है :—

(१) कथा की गति को बढ़ाना (२) पात्रों का परिचय,
तथा उनके स्वाभावादि की सूचना देना। इस विचार से
वर्तालाप को पात्रों के उपयुक्त ही होना चाहिये, तथा ऐसा होना

चाहिये कि उससे पात्रों का चित्र खिंच सके। इसकी भाषा, खूब मुहावरेदार, व्यावहारिक, सरल और स्पष्ट हो, वाक्य बहुत सूक्ष्म, छोटे और भावों को सूचित करने वाले हों, पद अर्थ-व्यंजक हों और संयोजकादि अव्यय न हों, इसका प्रारम्भ ऐसी क्रियाओं से हो जो वार्तालाप करने वाले पात्र की मानसिक दशा या वृत्ति को सूचित करती हों।

कथा के तत्व:—कथा में भिन्न भिन्न रूप की जटिल एवं कठिन गाँठें हों, उनको नायक खोलाता हो। इन गांठों के खोलने की कठिनाइयाँ बढ़ानी चाहिये, ताकि कथा में रोचकता और भावोत्तेजक आकर्षण आजावे, इन ग्रंथियों को स्थिति या (Situation) कहते हैं, इनकी मालिका जब पराकाष्टा पर पहुंचती हैं तब कथा-विन्यास (Plot) की उत्पत्ति होती है। पूर्वचिंतित और अवश्यम्भावी स्थितियों के तारतम्य को द्वैधावृत्ति कहते हैं। स्थितियाँ क्रम से विकसित होती हुई मनोरंजक रहें, एक से दूसरी में अकस्मात ही प्रवेश तो होना चाहिये किन्तु बहुत लम्बी दौड़ न लगाना चाहिये। स्थितियां परस्पर सुगठित रहकर पराकाष्टा तथा पात्रों से समुचित सम्बन्ध रखने वाली हों, उनकी गति प्रधान नायक की दृष्टि से हो। पात्रों के साथ इनका सूक्ष्म तथा साधारण सम्वन्ध होना अच्छा है।

कथा, परिकथादि के अतिरिक्त भी ऐसे कथात्मक विषय हैं जो निबंध के रूप में लिखे जाते हैं, जैसे किसी आवश्यक घटना का वर्णन, ऐतिहासिक घटनायें, किसी महापुरुष की जीवनी या

जीवन-कथा। इनके लिये निम्नांकित विशेष नियमों का ध्यान रखना चाहिये—

किसी प्रत्यक्ष घटना की कथा कहते समय उस घटना की आवश्यक बातें ही देनी चाहिये; किन्तु उसका स्थान, समय और उसके कारणादि का विवरण न छोड़ देना चाहिये। उस घटना की परिस्थिति तथा उसकी सहयोगी बातें, उसका फल तथा इसी प्रकार की अन्य आवश्यक बातें भी देना उचित है। सुनी हुई घटना का सुना हुआ विवरण यथाक्रम देना चाहिये।

ऐतिहासिक घटना को तभी लिखना ठीक है जब उसका उचित ज्ञान इतिहास की सहायता से प्राप्त कर लिया गया हो, घटना से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों का भौगोलिक परिचय भी शुद्ध, स्पष्ट और उचित मात्रा में हो। केवल घटनान्तर्गत बातों की एक शृंखला बना देना ही ठीक नहीं, वरन् उन सब को क्रमानुसार रोचकता के साथ रख कर कथा के अनुकूल बना देना चाहिये। यदि इस में कल्पना से भी सहायता लेनी हो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु काल्पनिक बातों से उसमें कृत्रिमता, असत्यता तथा और कोई बुराई न आने पावें।

३. किसी की जीवन-कथा के लिखते समय निम्न बातों पर ध्यान रखना ही ठीक है :—

क—जीवन-लीला का प्रारम्भ और अन्त स्पष्ट और सत्य हो, इतिहास के समान उसकी तिथियां जँची हुई हों। उस महापुरुष की जन्मभूमि, उनके माता पिता एवं अन्य निकटवर्ती

सम्बन्धी, मित्र और पुरजनों के साधारण व सूक्ष्मावश्यक परिचय को भी न छोड़ देना चाहिये।

ख—जीवन की सभी मुख्य २ घटनायें सच्चे, सजीव और सार्थक रूप में दी जावें। बाल्यकाल, युवा, तथा जराकालादि सभी कालों की घटनायें चित्रित हों। उस महापुरुष का रूप रंग, स्वभाव चालढाल, चरित्रादि पर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया हो। उसकी जीविका, कार्य-प्रगति, प्रभावादि का वर्णन भी उल्लेखनीय है। उसके उन गुण कर्मादि का भी वर्णन हो जिन से उसने अपने को आदर्श बनाया है।

ग—न केवल उसके प्रशंसनीय कार्य ही दिखाने चाहिये तथा न केवल उसके श्लाघापूर्ण जीवनांश ही दिखलाने योग्य हैं वरन् उसके जीवन-नाटक के सभी अच्छे बुरे दृश्य या अंक चित्र-पटलांकित कर सम्मुख रखने चाहिये। तभी उसमें सत्यता, सजीवता एवं स्वाभाविकता आ सकेगी :

कथात्मक निबन्ध के ढाँचे

सामग्री :—

यदि कोई सत्य घटना—प्राचीन या सामयिक, ऐतिहासिक या पौराणिक आदि में से ली गई है तो उस घटना को प्रथम अच्छी तरह समझ और जान लो। उसकी समस्त बातें जो मुख्य एवं प्रभावोत्पादक हैं अलग रख लो, और उनमें से सर्व प्रधान बात को अपने लक्ष्य में रखकर उसे अपने उद्देश्य एवं अभिप्राय से मिलाओ। इसी बात पर तुम्हें सब प्रकार बल देना होगा और अन्यान्य सारी बातों को चतुरता से झुका कर उसी पर घटित करना तथा उसी का सहायक एवं परिपोषक बनाना होगा। यदि घटना का उदय तुम्हारी कल्पना ही से होता है तो उसे किसी एक लौकिक या सैद्धान्तिक आधार पर समाधारित करो। कोरी कल्पना ही का उसमें कौतुक न रहे, वरन् उसमें स्वाभाविकता तथा संभाव्यता की भी कुछ आवश्यक पुट रहे जिससे वह मनोरंजन के साथ ही साथ पाठकों के मन एवं चरित्र पर भी कुछ अभिप्रेत एवं समीचीन प्रभाव डाल सके। समस्त कथानक सब प्रकार असत्य ही न प्रतीत हो सके। केवल मनोविनोद ही करके वह पाठकों के हृदयों से बिना कुछ अपना प्रभाव छोड़े हुये उड़ न जाये।

अब अपनी कथा की स्थापना, तदनुकूल आलम्बन (मुख्य पात्र एवं पात्री, समय, देश, परिस्थिति, अवस्थादि) रस, भाव और अनुभावादि को स्थिर कर लो। समस्त घटनाओं के समुदाय से मुख्य २ घटनायें चुनो और उन्हें यथाक्रम रख लो। किसी व्यक्तिविशेष की जीवनी लिखते समय उसकी जन्मतिथि, जन्म भूमि, उसके माता पितादि का सूक्ष्म परिचय, उसके बाल्य, यौवन तथा वृद्धावस्था की सभी आवश्यक घटनायें सत्यता और स्वाभाविकता के साथ यथाक्रम देनी चाहिये। साथ ही उनके द्वारा अपने मुख्योद्देश्य के अनुसार ही उसके चरित्र, स्वभाव, तथा कार्य-प्रगति आदि को भी उपयुक्त स्थलों में प्रकाशित करना चाहिये। जीवन के सभी पटलों (अच्छे या बुरे, साधारण या विशेष आदि) में से मुख्य २ लीलाओं की बातों का प्रदर्शन कराना चाहिये, तदुपरान्त अन्त में उससे उपदेश, शिक्षायें या आवश्यक और स्वाभाविक सिद्धान्त, जिनका प्रभाव हृदय, चरित्र तथा स्वभाव पर पड़ सकता है सूक्ष्म एवं सूच्य रूप में खींचकर रखना चाहिये।

देखी या सुनी हुई सामयिक घटना की कथा उसी प्रकार होनी चाहिये जैसी वह देखी या सुनी गई है, उसमें तब तक नमक मिर्च न मिलाना चाहिये जब तक इसकी सब प्रकार अत्यावश्यकता न देख पड़े।

कथा के लिये-ढांचा—(१) छोटी और उपयुक्त स्थापना, (समय,स्थान, एवं स्थिति) (२) मुख्य पात्र एवं पात्री का सूक्ष्म और

उचित परिचय। (३) यथाक्रम घटनाओं का विकास। (४) सारांश या परिणाम। (५) शिक्षा या तत्प्राप्तोपदेश रखना चाहिये (moral)।

जीवन-कथा में:—(१) उस व्यक्ति का प्रारम्भिक परिचय, एक सूक्ष्म तथा छोटी किन्तु आवश्यक उद्देश्य-सूचक तथा प्रभावपूर्ण भूमिका के पश्चात चतुरता से दिया जाना चाहिये, जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, माता-पिता आदि का सूक्ष्म परिचय।

(२) उसका बाल्य-काल:—प्रारम्भिक बातें, चतुर्दिक की परिस्थिति, विद्याध्ययन, क्रीड़ा-कौतुकादि—

(३) युवा-काल:—जीविका, प्रभाव, चरित्र (चाल-ढाल) रूप-रंग, एवं कार्य-प्रगति।

(४) वृद्ध जीवन:—समस्त जीवन का निचोड़, परिणाम, मरण-तिथि, स्थान एवं अंतिम दशा।

(५) जीवनी से शिक्षा की स्वल्प सूचना भी देनी चाहिये।

सामयिक दृष्ट या श्रुत घटना में:—(१) घटना का समय, स्थान एवं परिस्थिति। (२) कारण और तत्सहयोगी या सहचर अन्य बातें। (३) मुख्य घटना की चुनी हुई बातें। (४) प्रभाव या परिणाम। (५) उस विषय में अपना मत (यदि उचित हो) देना चाहिये।

ऐतिहासिक या पौराणिक कथा में:—इतिहास और पुराण का आधार प्रकाशित करते हुये इसके कलेवर का भी

वही आंगिक विकास होना चाहिये जिसका चित्र कथा के प्रसंग में ऊपर खींचा गया है।

विद्यार्थी गण हमारे बनाये हुये ढाँचों को केवल अपना सहायक या पथ-प्रदर्शक ही मानें, वे अपनी आवश्यकता तथा उचित रीति के अनुसार इनमें हेर फेर भी कर लें। यह तो एक व्यापक और साधारण विभाग-चित्र है।

नोट—कल्पित कथा का इन सब प्रकार की कथाओं से सम्बन्ध है, यह किसी भी रूप में रक्खी जा सकती है। इसमें कल्पना की ही प्रधानता होती है। कथा की घटनायें अपनी या दूसरों की अनुभवित हो सकती हैं और उसी प्रकार दिखाई भी जाती या जा सकती हैं।

वर्णनात्मक-निबंध

वर्णन:—किसी वस्तु या पदार्थ अथवा किसी दृश्यादि को भाषा में इस प्रकार से रखना कि पाठकों के सम्मुख उसका पूर्ण परिचय एवं ज्ञान चित्र के साथ ही साथ साकार रूप में सजीवता लिये हुये आ उपस्थित हो। कह सकते हैं कि यह एक प्रकार की शब्दों के द्वारा चित्र-लेखन की कला है।

जिसका वर्णन पढ़ा जाता है, मन उसे पूर्ण रूप से जान लेना चाहता है, अतः वर्णन ऐसा होना चाहिये कि उससे जिज्ञासा की पूर्ति हो सके, साथ ही मन पर अच्छे या बुरे संस्कारों

की छाप लग सके। संस्कारों से, कल्पना तथा स्मरण शक्ति में चैतन्यता आती है। इन संस्कारों को जिनका अर्थ मन जानना चाहता है जिस प्रकार लेखक सुबोध करके लिखता है उसे व्याख्या या स्पष्टीकरण कहते हैं, परन्तु जब वे अनुभव-जन्य बनाये जाते हैं तब वर्णन या विवरण का रूप उनमें आ जाता है। अतः स्पष्ट है कि वर्णन-कला में दो शक्तियों का क्रीड़ा-कौतुक रहता है, (१) विचार या कल्पना शक्ति का, (२) चित्र खींचने वाली शक्ति का।

वर्णन का प्रभाव न केवल मानसिक वृत्तियों ही पर पड़ता है वरन् सच्चे और सजीव वर्णन से कर्मेन्द्रियों में भी उत्तेजना आती है, उनमें भी संचलन क्रियायें (Feelings) उत्पन्न या जागृत हो जाती हैं। अतः वर्णन में केवल शब्दाडम्बर एवं चित्र-चित्रण ही न होना चाहिये वरन् उसको ऐसा बनाना चाहिये कि मानसिक भावनाओं, वृत्तियों तथा कल्पनाओं के साथ ही साथ उस वर्णन से इंद्रियों में भी गति उत्पन्न हो जावे। यह तभी हो सकता है जब वर्णन में विशेष संज्ञा-बोधक शब्दों से पदार्थों का ऐसा विवरण हो, जिसके द्वारा स्मरण शक्ति में, जो संस्कारों का कोष है, जागृति आ जावे। अतः किसी भी प्रकार का वर्णन हो उसमें विशेष बातों या गुणों का समावेश खूब होना चाहिये, साधारण बातें या गुण-कर्मादि छोड़े जाने चाहिये, क्योंकि मन की प्रवृत्ति विशेष बातों व गुणों की ही ओर विशेष रुचि के साथ होती है।

वर्णन के भेदः—वर्णन दो प्रकार का हो सकता या होता है, (१) जिसमें लेखक स्वयमेव चलता हुआ अपने मार्ग में आते हुये पदार्थों या दृश्यों का वर्णन करेगा (२) अथवा जिसमें लेखक स्वयम् एक स्थान पर बैठा हुआ अपने सामने आने वाले पदार्थों या दृश्यों का वर्णन करेगा। वर्णन करने में चतुर पटुता उसी को प्राप्त हो सकती है जिसकी दृष्टि पदार्थों एवं दृश्यों आदि के देखने, उनकी गति तथा उनकी विशेष विशेष या आवश्यक बातों के देखने या निरीक्षण करने में बड़ी तीव्र, सूक्ष्म तथा अभ्यस्त हो और जिसकी स्मरणशक्ति भी पर्याप्त रूप से प्रबल हो। जिनकी कल्पनाशक्ति भी परिमार्जित, और अभ्यस्त कार्यकारिणी होगी उनके लिखे हुये वर्णनों में कौतुक-पूर्ण चमत्कृत मनोहारिता आ जावेगी। इन सब बातों के लिये स्वानुभव ज्ञान तथा पर्यटन के साथ ही साथ अभ्यास की नितान्त आवश्यकता है। हम बिना अभ्यास के उन पदार्थों एवं दृश्यों का भी वर्णन अच्छा नहीं कर सकते जिनको हमने अपनी आँखों से देखा है। अतः आवश्यकता है वर्णन करने में अभ्यास करने की। निष्कर्ष रूप में यों लीजिये कि वर्णन के लिये आवश्यक हैः—

१—पर्यटन एवं स्वानुभव।

२—तीव्र और चतुर निरीक्षण।

३—कुशल कल्पना।

४—वर्णन करने में अभ्यास।

५—सुन्दर स्मरणशक्ति।

इन सब बातों के अतिरिक्त जो सब से अधिक महत्वपूर्ण बात है वह है "लेखक की दृष्टि"
लेखक एक ही वर्णन-सामग्री का उपयोग अपने दृष्टि-वैलक्षण्य एवं वैचित्र्य के कारण अनेक प्रकार से कर सकता है अथवा एक ही पदार्थ एवं एक ही दृश्य का वर्णन भिन्न भिन्न लेखक अपनी २ रुचि की विचित्रता एवं दृष्टि की विभिन्नता के कारण भिन्न २ प्रकार से कर सकते और करते हैं। जिस दृष्टि से कोई लेखक किसी दृश्य या वस्तु का निरीक्षण करता है उसी दृष्टि के अनुसार वह उसका वर्णन भी करता है। प्रयाग का वर्णन एक धार्मिक व्यक्ति तीर्थराज की दृष्टि से, एक इतिहास-लेखक इसे प्रान्त का प्राचीन नगर मानकर ऐतिहासिक महत्ता की दृष्टि से तथा एक व्यापारी इसे व्यापार का नगर मान उसी व्यापारिक दृष्टि से करेगा। यही बात एक शिक्षा-प्रेमी या विद्यार्थी के साथ भी है वह प्रयाग को शिक्षा का केन्द्र तथा विश्वविद्यालय का स्थान लेकर चलेगा। तात्पर्य यह कि लेखक को अपने दृष्टि-कोण को निरीक्षण तथा वर्णन करते समय अवश्य निर्धारित कर लेना चाहिये, तब फिर उसी दृष्टि-कोण या मंतव्य के साथ उसी की पुष्टि करते हुए वर्णन-सामग्री को उठाना तथा उसका उपयोग करना चाहिये।

किसी स्थान, व्यक्ति, एवं पदार्थ के वर्णन में क्रमानुसार न केवल उसकी ही बातों का उल्लेख करना चाहिये वरन् उससे सम्बन्ध रखने वाली उसके चतुर्दिक की परिस्थितियों, भौगोलिक स्थितियों, दशाओं एवं अन्यान्य आवश्यक बातों का भी वर्णन वृत्तान्ताख्यान (Details) के लिये उनकी उपयोगिता एवं अनुपयोगिता का विचार रखते हुये ही करना अच्छा और मनो नीत होता है, किन्तु जब केवल मनोवृत्तियों या भावनाओं अथवा विकारों में ही जागृति उत्पन्न कराने का अभिप्राय हो तब, इन सब को अपने मंतव्य से वाह्य समझ, न देना चाहिये, उस समय केवल वे ही बातें विस्तृत रूप से रखनी चाहिये जिनसे मनोविकारों में चैतन्यता एवं उत्ते जना आवे। सारांश यह कि अपने निश्चित अभिप्राय या लक्ष्योद्देश्य के ही अनुकूल वर्णन करना चाहिये ।

वर्णन की भाषा:—वर्णन की भाषा रोचक और फड़काने-वाली हो। उसमें चित्रों के अंकित करने वाली शक्ति का भी होना उचित है। वृत्तान्तात्मक वर्णन में चुने चुनाये थोड़े से विशेष संज्ञाबोधक शब्दों और सुन्दर मुहावरों का समावेश करना अच्छा होता है। वाक्य छोटे, सरल और शीघ्र गामी हों, उनकी प्रगति स्पष्टता के साथ सरल रूप में रक्खी जावे। छाँट छाँट कर चुभती हुई मुख्य मुख्य बातें कही जावें, साधारण बातें पाठकों की कल्पना एवं स्मरण शक्ति

के लिये छोड़ दी जा सकती हैं। शब्दों की संख्या को परिमित रखना अच्छा है, बहुत से व्यर्थ के शब्द भर देना वर्णन की रोचकता का नाश करना है। यदि हो सके तो विशेषणों, क्रिया-विशेषणों, आदि का प्रयोग न होने पावे और यदि हो भी तो बहुत ही कम और आवश्यकतानुसार ही चुने हुये विशेषणों आदि का। उनका आगमन स्वतः होना ठीक है, लेखक को उन्हें बलात् खींच कर न घसीट लाना चाहिये।

सारांश यह हुआ कि:—१ संक्षेप रूप से मुख्य बात के कहने में न चूको २ कथा के द्वारा, हो सके तो वर्णन की सहाय्य करो। ३. अपने ब्योरे को (या वृत्तान्त-विस्तार को) क्रम से रक्खो। ४. अपना एक मुख्य मंतव्य या उद्देश्य भी रक्खो और जब उसे बदलो तो पाठकों को चतुरता से सूचित कर दो। ५. विशेष संज्ञा-बोधक शब्द सरल, सीधे और शीघ्रगामी वाक्यों में प्रयोगानुसार स्मृति एवं मानसिक कल्पना की जागृति के लिये रक्खो।

किसी दृश्य या पदार्थ को देखकर जैसी भावनायें या मनोवृत्तियाँ स्वभावतः उठती हैं वैसी ही यथार्थ रूप से वाक्यों के द्वारा लेखक अपने वर्णन में उठा सकता है, परन्तु उनमें कृत्रिमता और असत्यता न आने पावे, उनसे वर्णन में गड़बड़ी न पड़ सके, चित्र में मलिनता न पैठ सके, इन बातों का ध्यान खूब रखना चाहिये। इन सब बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये निरंतर अविरल रूप से अभ्यास ही करना सर्वोत्तम उपाय है। किसी वस्तु या दृश्य को देखना तो सरल है परन्तु उसका

वर्णन करना और सजीव तथा स्वाभाविक भाषा में वर्णन करके चित्र खड़ा करना बड़ा ही कठिन और अभ्यास से भी कष्टसाध्य विषय है।

वर्णन-शैली:—वर्णनात्मक विषयों के लिये कोई भी शैली उठायी जा सकती है, हां उसके द्वारा वर्णनात्मक विषयों के लिये बनाये गये अन्यान्य नियम, जिनका परिपालन उचित एव उपयोगी है, न टूटने पायें। यह अवश्य है कि इसमें क्लिष्ट शैली का प्रयोग सर्वथा त्याज्य है। यह भी देखने में आता है कि बड़े बड़े लेखकों ने इस नियम का उल्लंघन भी किया है, यथा कादम्बरीकार कविवर बाण भट्ट ने वर्णन के लिये क्लिष्ट शैली ही उठाई है और लम्बे वाक्य, जटिल तथा लम्बी लम्बी समासों एवं कठिन अलंकारों की ग्रंथियों से (श्लेषादि) भरी हुई पदावली का प्रयोग किया, किन्तु सब कुछ बड़ी सफलता के साथ। हम अपने विद्यार्थियों को तो भी उनकी प्रारम्भिकावस्थ में ऐसी राय कदापि न देगें कि वे धुरंधर लेखकों का अनुकरण करें। हाँ, वे अलंकारिक शैली का प्रयोग कर सकते हैं किन्तु यह सदा ध्यान रक्खें कि उनके अलंकार इस विषय में सदैव चित्रोपम (चित्र खींचने वाले) तथा सादृश्यमूलक (उपमा, रूपकादि) के ही रूप में रहें। अमूर्त शब्द (Imageless words or abstract ideas) या विचार उसमें जहाँ तक हो सके बहुत ही न्यूनता तथा अल्प संख्या में आवें तो अच्छा है। हाँ कभी कभी विषयानुकूल कल्पना का कौतुक कौतूहल एवं मनोंरंजन के लिये कर देना अच्छा है। वैसे तो

वर्णन में स्वाभाविकता, स्पष्टता, यथा क्रमता आदि के गुण आवश्यक ही हैं।

वर्णनात्मक विषयों का मान चित्र या ढांचा :—

वर्णनात्मक विषयों को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं:—

(क)—साधारण
१. वस्तु या पदार्थ का वर्णन, जैसे, सोना, मोटर, रथ, गेहूँ, नमक आदि।
२. वृक्ष, लता, वनोपवन—
३. पशु-पक्षी आदि।

(ख)—विशेष
४- सभा, मेला, मनुष्य-वृन्द, गाँव, नगर।
५. स्थानादि :—मंदिर, तीर्थ, संगम, पर्वत, स्कूल, पुस्तकालय, प्रचीन स्थान।
६. समय :—प्रातः, संध्याकाल, चन्द्रोदय सूर्योदय, ग्रहण, वर्षा, वसंत, शरद, त्योहार उत्सव (ब्याह, तमाशा)
७. प्राकृतिक दृश्य आदि
८. यात्रा आदि

यह हम प्रथम ही कह चुके हैं कि वर्णन के लिये लेखक का "दृष्टिकोण", उसकी रुचि, कल्पना और अभ्यस्त स्मर्ण शक्ति के साथ चतुर तथा सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभव-ज्ञान की आवश्यकता है। दृष्टिकोण और रुचि में वैचित्र्य होने से वर्णन तथा वर्णन शैली में भी वैलक्षण्य आ जाता है। अतएव यह पूर्णतया लेखक पर ही निर्भर है कि वह किसी वर्णनात्मक विषय को

अपने साँचे में ढाल कर अपने उद्देश्य एवं दृष्टि-कोण के अनुसार उठावे। इसी प्रकार वर्णन के विषय को भागों में बाँटना भी उसी की रुचि तथा दृष्टि पर निर्भर है, तौ भी साधारण और व्यापक सिद्धान्त एवं प्रणाली हम विद्यार्थियों के पथ-प्रदर्शनार्थ यहां दे देते हैं, उसका अनकरण केवल अभ्यास के लिये ही करना उचित है :—

(१) साधारण वर्णन का ढाँचा :—(१) गृहीत विषय की (वस्तु, पदार्थ, वृक्ष, पशुपक्षी आदि) परिचयात्मक परिभाषा—रूप-रंग, आकार-प्रकार, एवं लक्षणादि

(२) साधारण विवरण या व्याख्या।

(३) गुण, कर्म एवं स्वभाव।

(४) भेद,उपभेद और प्राप्ति-स्थान।

(५) उपयोगिता या अनुपयोगिता।

(२) विशेष वर्णन का ढांचा :—

(१) साधारण और व्यापक विवरण।

(२) व्याख्या तथा सविकास स्पष्टीकरण

(३) तत्सम्बन्धी एवं सहयोगी बातें, जो सहचारी तथा साहाय्यप्रद हैं।

(४, स्वाभाविक तथा व्यावहारिक लक्षण, गुण, धर्म और प्रकृति।

(५) प्रभाव और लाभ-हानि।

(६) अन्य आवश्यक बातें।

ध्यान रहे कि यह क्रम केवल व्यापक और सर्व साधारण है। विद्यार्थियों को उचित है कि वे अपने विषय को ख़ूब समझ कर विभक्त करें। यह अवश्य है कि इस विभाग-क्रम से उनको मार्ग ज्ञात हो जायेगा तथा कुछ सहायता भी मिल सकेगी। इनके अतिरिक्त भी और मुख्य मुख्य बातें (Points) विषयानुसार चुन लेनी चाहिये। जैसेः—स्थानादि में

(१ भौगोलिक परिस्थिति
(२) कारण, उत्पत्ति एवं विकास
(३) चतुर्दिक के संसार से उनका सम्बन्ध, एवं उनके मार्ग
(४) उनसे सम्बन्ध रखने वाले महापुरुषों का सूक्ष्म हाल।

प्राकृतिक दृश्यः—(१) स्वाभाविक परिस्थिति, कारण, उत्पत्ति आदि (यदि आवश्यकता हो)
(२) सौंदर्य, आकर्षक गुण एवं रहस्य, जल-वायु, और प्रतिभा।

यात्रादिः— (१) भौगोलिक परिचय, यात्रा-साधन (रेल, जहाज)
(२) मार्गगत पदार्थों, दृश्यों, एवं घटनाओं का यथाक्रम सूक्ष्म और स्पष्ट विवरण।

(३) प्रकृति-परिवर्तन की व्याख्या।

(४) अनुभव और ज्ञान की वृद्धि।

समय—क, प्राकृतिक—जैसे ऋतु, सायं, प्रातः आदि—

(१) कारण और लक्षण।

(२) प्राकृतिक दृश्य, सौंदर्यादि का आकर्षण।

ख, कृत्रिमः—जैसे त्योहार, उत्सवादि—

(१) साधारण विवरण—तद्रूप, आकार-प्रकार

(२) कारण, उद्देश्य, और सीमा।

(३) रीति, रस्म, प्रणाली या परिपाटी।

सदैव इस बात पर ज़ोर दिया जावे कि इनमें केवल वर्णन या विवरण ही उचित है, तत्सम्बन्धी भाव या विचार गौण हैं, अतः भावात्मकता की पुट बहुत ही न्यून रहे। शुद्ध, सच्चा, स्वाभाविक, सजीव और चित्रोपम वर्णन ही यहां स्पष्टता के साथ रहे।

व्याख्यात्मक निबंध

व्याख्या

मानसिक भावों को भाषा में अनुवादित या व्यक्त करना व्याख्या करना कहलाता है। पदार्थों का विवरण देना, हम प्रथम ही बतला चुके हैं, उन का वर्णन करना कहलाता है। सार्वलौकिक और व्यापक नियमों को

प्रकाशित करना भी व्याख्या के अन्तर्गत आता है, ऐसे ही भावों, सिद्धान्तों तथा मानसिक वृत्तियों का सच्चा, स्वाभाविक और स्पष्ट वर्णन करना व्याख्या करना है। व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन भी यद्यपि इसमें रहता है तो भी व्यक्तित्व की छाप व्याख्या से परे ही रहनी चाहिये। व्याख्या करने के लिये विचारों और निर्णयों (Judgements) की बड़ी आवश्यकता है। जिस विषय की व्याख्या करना है उसको प्रथम मनन कर लेना भी उचित है।

व्यापक भाव-सूचक संज्ञा शब्द पद (Term) कहलाते हैं, इन शब्दों में चित्र उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती, क्योंकि वे एक व्यापक भाव के द्योतक होते हैं और सार्वलौकिक अर्थ के सूचक होकर अपना व्यक्तित्व-भाव खो बैठते हैं। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि इन व्यापक भाव-सूचक शब्दों के भी चित्र मस्तिष्क में खिंचते हैं जिन्हें हम शब्द-चित्र या भावालेख्य कह सकते हैं। हमारा मंतव्य यहाँ व्यापक भाव-सूचक सार्वलौकिक शब्दों की विवेचना करना नहीं है, हम तो दूसरा ही विषय अपने हाथ में लिये हुए हैं, जो इन व्यापक शब्दों के स्पष्टीकरण से सम्बन्ध रखता है। व्यापक भावों को स्पष्ट करना ही व्याख्या का मुख्योद्देश्य है, इसके विपरीत, वर्णन एक व्यक्ति, पदार्थ या दृश्यादि पर विशेष प्रकाश डालता है, उसका लक्ष्य सर्वसाधारण भावों, व्यापक विचारों, शब्दों की व्यंजना से सम्बन्ध नहीं रखता। अतः व्याख्या, वर्णन और कथा दोनों से अधिक गूढ़, गंभीर, व्यापक और विस्तृत होती है, वर्णन और

कथा दोनों व्याख्या के अंदर आ सकती हैं। व्याख्या का मन-मस्तिष्क से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है, यह सिद्धान्तों के साथ चलती है और इसके रूपाधार सभी सैद्धान्तिक (Theoritical) रहते हैं, इसमें प्रयोगात्मक या व्यवहारात्मक ज्ञानानुभव का बहुत कम अंश रहता है; इसी से यह विवेक, ज्ञान, बुद्धि और विद्या से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है।

व्याख्यात्मक निबन्धों के अन्दर तार्किक या तर्कात्मक निबंध भी आते हैं, जिनका लिखना कठिन होता है, क्योंकि इनका सम्बन्ध सीधे सीधे तर्क ही से होता है जिसके लिये तर्कशास्त्र के नियमों का जानना बहुत आवश्यक है। न्याय और तर्क का विषय जटिल तथा साधारण श्रेणी के विद्यार्थियों से बहुत परे है, इसी से हम इस विषय के केवल आवश्यकाति-आवश्यक कुछ बातें बताकर ही प्रसंग पूर्ण करते हैं। तार्किक विषय पर निबंध लिखते समय सब से प्रथम अपने साध्य पक्ष को (जिसे युक्तियों और न्याय से सिद्ध करके प्रतिवादित करना है) ख़ूब सोच लेना चाहिये। उसको भली प्रकार मनन करके ख़ूब विचार लेना उचित है। उसे सदा अपनी दृष्टि के सामने रखते हुये सब प्रकार चतुर और पुष्ट न्याय-संगत युक्तियों से हेतु, उदाहरण और प्रमाण देकर पुष्ट करना तथा सिद्ध करना चाहिये। प्रत्येक तर्क सकारण और स्वाभाविक रूप से सत्य रहे। अपने ही पक्ष या बात को अपनी ही दूसरी बात से न कटने देना चाहिये। निगमन, निर्णय अथवा

परिणाम को (Conclusion) या तो प्रथम देकर उसके पुष्ट या सिद्ध करने वाले हेतु देने चाहिये या प्रथम अपने सार्व-लौकिक सत्य सिद्धान्त से प्रारम्भ कर हेतु देते हुये स्वभावतः ही अपने साध्य पक्ष पर आ जाना चाहिये। सतर्क होकर सुचिंत्य बातें या प्रमाण (प्रबल तथा प्रभाव-पूर्ण प्रमाण) सामने रखना चाहिये, क्योंकि तुम्हें उन्हीं के बल से अपने विपक्षी लोगों पर प्रभाव डालना तथा उन्हें अपने पक्ष को मनवा देना है । तुम्हारी व्याख्या में शैथिल्य, संदिग्धता, तथा अन्य दोष की पुट न होनी चाहिये । तुम्हारे वाक्य खूब गठे हुये, चुने चुनाये और अकाट्य भावों एवं विचारों से भरे पूरे हों। आवश्यक है इसमें सफलता के लियेः—

(१) निश्चय का विशेष ज्ञान, स्वाध्याय, मनन और चिंतन।
(२) तर्क शास्त्र का सुपुष्ट ज्ञान और तर्क में अभ्यास।
(३) भाषा में गहरा ज्ञान, तथा युक्तियों में अभ्यास।
(४) विवेक बुद्धि से की गई विषय की विशेष विवेचना।
(५) स्मरण तथा कल्पना शक्ति का अभ्यस्त एवं प्रबल कौशल।
(६) वाक्चातुर्य, शब्द-कौशल और भाषा में ओज और बल।
(७) वाह्य ज्ञान तथा लौकिक ज्ञान के साथ ही साथ उदाहरणों और दृष्टान्तों का कुशल पुष्कल कोष, तथा उनके प्रयोग में पटुता।

(८) अनेक विषयों का पर्याप्त ज्ञान और पुष्कल पुस्तकावलोकन। इन बातों में कुशलता प्राप्त होने पर तर्कात्मक निबन्ध लिखने मेंपर्याप्त सफलता प्राप्त हो सकती है, वैसे तो यह विषय विशेष गंभीर और गूढ है और न्याय से ही सम्बन्ध रखता है।

व्याख्या-विधि या विधान :—व्यापक भाव-सूचक संज्ञा शब्दों एवं सिद्धान्तों को जिन्हें सर्वसाधारण मानते हैं Terms या पद कहते हैं। इन्हें लेकर और स्थिति या Situation के प्रतिनिधियों (नियोजकों या Factors) को उठाओ और फिर उनकी सर्वांग पूर्ण विस्तृत विवेचना करो। किसी स्थिति के कारणों को नियोजक कहते हैं। इस प्रकार व्याख्या मुख्यतः दो बातों पर निर्भर रहती है (१) स्थिति के प्रधान तथा आधार भूत नियोजकों तथा (२) विस्तारकारी वृत्तान्तों का अधिकता से समावेश तथा चतुर युक्तियों एवं प्रमाणों के प्राबल्य पर।

व्याख्या के अंग :—व्याख्या के, मानव शरीर के समान, मुख्यतः तीन अंग हैं (१) पक्ष, या साध्य (२) तद्विकास (३) परिणाम या सारांश, या यों लीजिये :—

(१) ब्योरा या वे बातें जो तुम्हारे पक्ष या विषय की प्रतिपादक हैं।

(२) वे बातें जो तुम्हारे पक्ष या विषय के विरोध में हैं।

(३) वे बातें जो तुम्हारे विषय से साम्य या सादृश्य रखती हैं, या वे बातें जो उससे वैषम्य या असादृश्य रखती हैं।

(४) विषय की अंतरंग और बहिरंग बातें तथा वे बातें जो विषय में विद्यमान और अविद्यमान हैं।

(५) वे उदाहरण और दृष्टान्त, जो तुम्हारे विषय से समानता और असमानता रखते हैं। जो उसके सहयोगी, समकक्ष या संगी हैं तथा जो उसके विरोधी, विपक्षी और उससे पृथक रहने वाले हैं।

ध्यान रखना चाहिये कि व्याख्यात्मक विषयों के सम्बन्ध में उदाहरण, दृष्टान्त तथा सादृश्य मूलक उपमादि बहुत सहायता देती हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही हम अमूर्त भावों (adstract ideas) एवं विषयों (objects) को सुबोध तथा स्पष्ट बना सकते हैं। इनके साथ ही साथ आवश्यकता है व्याख्या में सफलता के लिये :—(१) भाषा पर अच्छे अधिकार, प्रयोगों, युक्तियों तथा मुहावरों से सुष्ट परिचय, और अलंकार-ज्ञान की।

(२) शब्द-कोष की पुष्कलता, शब्दों के सुप्रयोग में अभ्यास,

(३) भावों की उच्चता तथा प्रौढ़ता, तदर्थ स्वाध्यायानुभव

(४) युक्ति-चातुर्य, वाक्कला-परिचय

(५) उदाहरण, दृष्टान्त तथा वाह्य संसार के अनुभवज्ञान की।

व्याख्या की भाषा :—भाषा का विकास यदि पर्याप्त रूप से देखने को मिलता है तो वह व्याख्यात्मक निवन्ध में ही।

कथात्मक निवन्ध में तो एक विशेष प्रकार की कथोपयुक्त शैली का प्रयोग किया जाता है जिसके विषय में हम ऊपर कह चुके हैं। वर्णन में भी एक विशेष शैली व्यवहृत होती है, परन्तु व्याख्या के लिये कोई विशेष प्रकार की नियम-निश्चित शैली नहीं कही जा सकती। व्याख्या का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है, इसके अन्तर्गत प्रायः सभी प्रकार के साहित्यिक कला, और विज्ञान सम्बन्धी विषय आ जाते हैं। भिन्न २ विषयों के लिये भिन्न २ प्रकार की शैलियों का प्रयोग मनोनीत होता है, इस पर हमने अपनी भूमिका में शैलियों का विवेचन करते हुये विचार किया है। यहाँ हमें यही कहना है कि व्याख्या का विषय जैसा हो वैसी ही शैली भी उठाना चाहिये और वैसी ही भाषा का भी प्रयोग करना उचित है। इतना अवश्य याद रखना चाहिये कि व्याख्यात्मक विषयों के लिखने में जो भाषा प्रयुक्त हो उसमें पद्यवत्ता तथा काव्यता की झलक न हो, नहीं तो वह गद्य-काव्य की भाषा सी हो कर कथा तथा वर्णन के लिये उपयुक्त बन जावेगी। व्याख्या की भाषा को भावों एवं विचारों से ख़ूब भरा पूरा होना चाहिये, प्रत्येक शब्द भावगम्य, शुद्ध तथा परिष्कृत रूप में हो। तनिक शब्दों में भाव-बाहुल्य रखना श्लाघनीय है अवश्य, परन्तु व्याख्या का विषय यदि जटिल, गूढ तथा गंभीर हो तो शब्द-बाहुल्य-द्वारा उसे विस्तृत रूप से समझाना ही ठीक है। एक विचार को स्पष्ट करने के लिये अनेक वाक्य और लम्बी शब्द-मालिका का व्यवहार करना ही उचित है। अतः पर्यायी वाचक शब्दों, तथा

एकार्थवाची अनेक शब्दों का अच्छा कोष लेखक को रखना पड़ेगा। जिसप्रकार एक कवि तथा सूत्रकार को अनेकार्थ वाची शब्दों की महती आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार व्याख्या-लेखक को भी अपने विचारों के व्यक्त करने तथा स्पष्ट रूप से समझाने के लिये पर्यायी वाचक तथा एकार्थवाची शब्दों के विस्तृत कोष की अनिवार्य रूप से आवश्यकता रहती है।

इसलिये व्याख्या के लिये, सरल तथा सुबोध भाषा होनी चाहिये, हां उसमें पारिभाषिक शब्दों तथा कुछ उपयुक्त पदावली का बाहुल्य अवश्य रहेगा। तार्किक विषयों की व्याख्या में वार्तालाप या विवाद मैं प्रयुक्त होने वाली शैली तथा भाषा का ही प्रयोग उपयुक्त होता है। सारांश यह, कि व्याख्या को सरल, सुबोध एवं स्पष्ट करने के लिये जिस प्रकार की भाषा या शैली का प्रयोग लेखक चाहे करे। हाँ उसे अपनी उस भाषा एवं शैली के द्वारा विषय को स्पष्ट कर देना ही उचित है। जिस प्रकार वह ऐसा कर सकता है, वह स्वच्छंदता एवं स्वतंत्रता पूर्वक वैसा ही करे। व्याकरण तथा लोक-व्यवहार या लौकिक प्रयोग (मुहावरे) का उसे अवश्य ध्यान रखना चाहिये। अपने विषय को स्पष्ट तथा प्रभावपूर्ण बनाने और उसे पुष्टता से प्रतिपादित करने के लिये लेखक को अपनी भाषा में ओज और बल के साथ साथ तर्क-चातुर्य भी खूब रखना चाहिये। एतदर्थ वह भाषा को क्लिष्ट और पेंचदार भी बना सकता है, अपनी शैली को वह साधारण न रखकर उसे जटिल तथा उच्च कोटि की रख सकता है, वाक्यों

में क्लिष्टता, गूढता तथा गंभीरता भी भर सकता है। परन्तु साधारणतः उसे अपनी भाषा को सरल, सुबोध एवं स्पष्ट ही रखना चाहिये। हां अमूर्त भावों को स्पष्ट करने के लिये वह अलंकारिक भाषा का प्रयोग कर सकता है, सादृश्यमूलक उपमा, उदाहरण एवं दृष्टान्तादि का भी उपयोग वह स्वतंत्रता से कर सकता है। हां, लम्बी लम्बी समासों तथा व्यर्थ के शिथिल शब्दाडम्बरको उसे दूर ही रखना चाहिये। तद्धित और कृदन्त की संज्ञाओं का प्रयोग-बाहुल्य उसके लिये अवश्य ही अनिवार्य सा ठहरेगा। क्रियाओं पर जैसा ज़ोर वर्णनात्मकादि विषयों के लिखने में दिया जाता है वैसा यहाँ आवश्यक नहीं, यहाँ तो भावगम्य तथा विशेष विचार-सूचक शब्दों की ही महत्ता होती है। जाति वाची तथा भाववाची संज्ञाओं का प्रयोग-बाहुल्य होना चाहिये, क्योंकि व्याख्यात्मक विषय सदा ही व्यापक, सर्व-साधारण तथा सार्वलौकिक रहता है, उसमें व्यक्तित्व का स्थान बहुत ही संकीर्ण होता है, अतः उसकी भाषा में भी औदार्य, स्वतंत्रता, व्यापकता और भावगम्यता होनी चाहिये।

सर्व-साधारण नियमों के अतिरिक्त, जो हमने अपनी भूमिका में दिये हैं, व्याख्यात्मक निबन्धों के सम्बन्ध में आवश्यक नियम निम्नांकित हैं, इनका पालन करने से विद्यार्थियों को बड़ा लाभ पहुंचेगा।

१. अपने विषय को प्रथम ख़ूब तैयार कर लो, और ख़ूब सोच समझ कर अपने सामने रख लो।

२. उसके अनुसार प्रथम अपना एक क्रमानुसार स्वल्प ढाँचा जिसमें वे मुख्य २ बातें जिनका विकास या विस्तृत विवेचन तुम अपने निबंध में करोगे, रहेंगी, पृथक बना कर रख लो। इसमें विषय-सामग्री का योक्तिक क्रमानुसार विभाग कर लेना चाहिये, इन विभागों और विषय में अंगांगी और अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखना चाहिये। यह केवल एक मान चित्र या ख़ाका के रूप में रहेगा। इसके कलेवर की पुष्टि एवं वृद्धि तो निबंधमें ही होगी। (ढाँचा बनाने के सम्बन्ध में हम और स्थान पर विचार करेंगे)।

३. विषय को चारो ओर से देखो और प्रत्येक रूप में उस पर विचार करो, परन्तु अपना उद्देश्य निश्चित रक्खो तथा उसी पर ज़ोर देते रहो।

४. तार्किक निबंधों में किसी बात को प्रमाण-पुष्ट तथा सिद्ध करना ही सिद्धान्त देना है। सिद्धान्त देकर उसका युक्ति-चातुर्य के साथ प्रतिपादन करना चाहिये। इस प्रकार के प्रबंध के निम्न विभाग किये जा साकते हैं :—

क—सिद्धान्त तथा उसका भावार्थ या स्पष्टार्थ—यहाँ सिद्धान्त को सरल व सुबोध कर खोल देना चाहिये, उसकी उचित व्याख्या और विवेचना भी करनी चाहिये।

ख—हेतु या कारण देना, सिद्धान्त रखने का कारण तथा क्यों ऐसा सिद्धान्त है इसका पूर्ण विचार करना है। विवेकात्मक तथा विवादात्मक विचार रखने से इसको पुष्टि होती है!

ग—पक्षान्तर या विपक्ष के सिद्धान्तों का विचार पूर्ण खंडन और अपने पक्ष का मंडन तथा प्रतिपादन, विरोधी सिद्धन्त को युक्तियों से काट कर अपने सिद्धान्त को स्थापित करना, इस भाग का मूल मर्म है।

घ—अपने सत्य सिद्धान्त के साथ सादृश्य या साम्य रखने वाले अन्य किसी सत्य बात को उपमा, उदाहरण या दृष्टान्त के रूप में रखना तथा उसकी सत्यता दिखाकर अपने विषय की पुष्टि करना उचित है।

ङ—किसी मान्य और आर्ष ग्रंथ से अपने प्रमाण की पुष्टि के लिये कुछ उल्लेख करना, अच्छे लेखकों के अंशों को उधृत करना तथा यह दिखाना कि वे लोग भी इसी सिद्धान्त के पोषक हैं और उनके द्वारा भी यह बात समर्थित हुई है।

(च)—फिर अपने परिणाम पर आकर सब बातों का सारांश या निष्कर्ष के रूप में रखकर अपने सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से सूचित करना, तथा उसकी व्यावहारिक उपयोगिता का भी प्रदर्शन करना चाहिये,यदि ऐसा करना आवश्यक प्रतीत हो।

यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के निबन्धों में सफलता, विचार की प्रौढता एवं परिपक्वता की ही मुखापेक्षी होती है। इसके लिये विवेक, ज्ञान और अनुभव के साथ ही साथ निर्णयात्मिका तथा प्रौढ़ स्मरण, कल्पना और मेधाशक्ति की विकसितावस्था की आवश्यकता है। तर्क-दक्षता तथा सूक्ष्म दर्शिता में पटुत्व होना भी आवश्यक है। यह सब बुद्धि के विकास के बिना सरल साध्य नहीं। अभ्यास

तथा अध्यवसाय की निरंतर ही अविरल रूप से महती आवश्यकता है। विद्यार्थियों को सरल,साधारण और स्वल्प निबन्धों से प्रारम्भ करके इन गूढ प्रबन्धों की ओर अग्रसर होना उचित है। उन्हें अपनी प्रत्युत्पन्नमति की गति में उत्तेजना तथा चैतन्यता लाने का प्रयत्न कर लेना चाहिये। बुद्धि-स्थैर्य की भी बड़ी महत्ता है, इसके बिना विद्यार्थी चारों ओर व्यर्थ के विचारों की उलझनों में भटकता रहेगा। विचारों में सत्यता तथा स्पष्टता लाने का भी पूर्ण प्रयत्न अवश्यंकरणीय है। मानस का भाव-तरंगों से उद्वेलित रहना अच्छा है तथा हृदय में भावनान्दोलन का होना भी ठीक है। मन-मस्तिष्क में विचारों को सदा ही अनुनादित रखना और किसी विषय पर विचार करते रहना चाहिये, इससे चिन्तन तथा मनन करने का उपयुक्त तथा उपयोगी अभ्यास हो जावेगा और फिर भाव या विचार सदा ही अपने आधीन होकर बुलाते ही आ जाया करेंगे। इसके अनन्तर विचारों को भाषा में सत्यता, स्पष्टता और सुगमता के साथ प्रकाशित करने का भी पूर्ण अभ्यास करना आपेक्षणीय है। देखा जाता है कि विचारों के रहते हुये भी कोई कोई व्यक्ति उनको भाषा में पूर्णतः प्रगट नहीं कर पाते, कारण यही है कि उनके पास उन्हें व्यक्त करने के लिये भाषा के सुन्दर भाव-प्रकाशक वाक्य नहीं, उन्हें उनके प्रयोग में अभ्यास नहीं, वे उनसे पूर्णतः परिचित भी नहीं। अतः भाषा से पूर्ण परिचय प्राप्त करना अनिवार्य है।

विषय-विभाग या ढाँचा बनाना

निबंध लिखने में कुशलता प्राप्त करने की प्रारम्भिक तैय्यारी हम अपनी भूमिका में दे चुके हैं, उसे सूक्ष्म रूप से हम यहाँ इस प्रकार फिर रख सकते हैं:—

१—अच्छा शब्द-कोष अपने हृदय में एकत्रित करना, और उसे अपने अधिकार में ऐसा रखना कि आवश्यकता पड़ने पर वह तुरंत काम दे सके, शब्दों के वास्तविक अर्थ या भाव, तथा उनके प्रयोग और व्यावहारिक अर्थादि से परिचय प्राप्त करना।

२—इसी प्रकार भाव-पूर्ण तथा विचारों से भरे पूरे वाक्यांशों का एक सुन्दर चुना हुआ समुच्चय बनाकर अपने अधिकार में रखना, तथा भाव-प्रकाशन-रीतियों से, पूर्ण अभ्यास कर परिचय प्राप्त करना।

३—स्वाध्याय, चिन्तन एवं मनन के साथ ही साथ पुस्तकावलोकन तथा सत्संग और सज्जनों एवं विद्वानों के सम्पर्क तथा वार्तालाप से विविध विषयों से सम्बन्ध रखने वाले विविध विचारों एवं भावों का एकत्रित करना। तथा पर्यटनादि से प्रत्यक्ष निरीक्षण और अवलोकन के द्वारा लौकिक तथा वाह्य व्यावहारिक (Practical) ज्ञान और अनुभव रखना।

४—किसी विषय को तोड़ना और फिर जोड़ना अर्थात् उसके विभाजन तथा संयोजन करने में अभ्यास करना।

५—किसी बात या विषय को सूक्ष्म या विस्तृत रूप में रखना; उसे थोड़े में या विस्तार से कहने या लिखने में अभ्यास करना।

६—किसी बात या विषय को अपनी भाषा में ज्यों का त्यों रख लेना अथवा उसे ज्यों का त्यों ही बिना किसी प्रकार के अन्तर-प्रत्यन्तर के पुनः प्रकाशित कर देने का अभ्यास करना।

७—किसी लेखांश का भावार्थ या साराँश निकालना तथा उसे अपनी भाषा में अनूदित या अनुवादित कर लेना।

इन सब आवश्यक व प्रारम्भिक बातों से पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाने पर प्रथम सरल और सीधे-सादे विषयों पर निबंध लिखने का अभ्यास कर लेना चाहिये, तब व्याख्यात्मक, गूढ और गंभीर विषयों की ओर आकर लेखनी उठाना चाहिये। इसके साथ ही प्रथम कई एक निबंधों या प्रबंधों को स्वतः पढ़कर उन्हें अपने मन में ख़ूब रमा जमा लेना चाहिये। अभ्यास के समय जिस विषय पर (व्याख्यात्मक या और कोई) निबंध लिखना हो उस विषय पर लिखे हुए निबंध को आद्योपान्त पढ़कर उसकी आवश्यक बातों, उसकी शैली, शब्दावली, रीति-नीति तथा विषय-विभाग-क्रम की परिपाटी पर ख़ूब ध्यान देना तथा उसे अपने मन में बिठा लेना चाहिये, अपने अध्यापक से भी इसमें सहायता ले लेना अच्छा है।

विषय को पूर्णतः विचार कर अवगत कर लेने, विषय की सामग्री एकत्रित कर तथा उसकी पूरी तैय्यारी कर लेने पर, विषय को कई एक मुख्याति मुख्य अंगों या विभागों में विभक्त कर लेना चाहिये। इस प्रकार प्रथम विषय को भिन्न २ शीर्षकों में तोड़ लेने पर उन शीर्षकों में से प्रत्येक के अन्दर सूत्र-रूप में (सूक्ष्म निष्कर्ष के रूप में) उन सब मुख्य मुख्य बातों को रख लेना चाहिये जिनका विकास और विस्तार लेख के कलेवर में करना है। ऐसा करते समय विभाग-मैत्री, या एकता (भागों का पारस्परिक सम्बन्ध) तथा उनके यौक्तिक क्रम का पूर्ण ध्यान रहे, नहीं तो यह श्रृंखला असम्बद्ध और उलझी हुई सी हो जावेगी। इस सब कार्य का यथावत संपादन ही ढाँचा या मानचित्र का बनाना कहलाता है।

इसकी रचना से विषय स्पष्ट और मार्ग सुगम तथा सीधा हो सरल हो जाता है और लिखने में बड़ी सरलता, स्पष्टता तथा सुबोधता आ जाती है। निबंध के कलेवर में फिर उन्हीं अङ्गों की विकसित स्फूर्ति से पूर्ति करनी ही रह जावेगी, जो सरलता के साथ हो सकेगी क्योंकि वह प्रथम ही सोच समझ ली गई है।

यों तो विषय, अपने दृष्टि-कोण (जिस दृष्टि या विचार के साथ विषय देखा गया है) तथा उद्देश्याभिप्राय के अनुसार विषय का विभाग किया जा सकता तथा उसका ढाँचा या मानचित्र बनाया जा सकता है, और ऐसा ही किया भी जाना

चाहिये। लेखक यदि ऐसा ही करें तो बहुत अच्छा हो। फिर भी हम विद्यार्थियों के पथ-प्रदर्शनार्थ यहाँ व्याख्यात्मक विषयों के विभाग-करण तथा ढाँचा बनाने के व्यापक सिद्धान्त या रूप दिखला देना उचित समझते हैं। तार्किक विषयों पर हम प्रथम पर्याप्त रूप से कह ही चुके हैं।

कोई भी व्याख्यात्मक सर्वसाधारण और व्यापक विषय हो उसे मुख्यतः हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) प्रारम्भ या भूमिका (प्राक्कथन)

(२) मध्य, विकास (कलेवर)

(३) परिणाम, अन्त (फल)

इनके अतिरिक्त यदि अन्त में (४) सार या निष्कर्ष भी दे दिया जावे तो कोई बुराई नहीं है। इनमें से प्रत्येक की हम सूक्ष्म विवेचना विद्यार्थियों के समझने के लिये नीचे कर देते हैं।

१—प्रारम्भ या भूमिका:—कोई निश्चित तथा ध्रुव नियम इस विषय में नहीं दिया जा सकता कि निबंध का प्रारम्भ कैसे किया जावे। यह कई बातों पर निर्भर है जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्नता के साथ होती हैं:—(१) लेखन की रुचि, उसका विषय-ज्ञान एवं अनुभव (२) लेखक की बुद्धि और कला-चातुरी (३) उसकी भाषा तथा शैली (४) लेख या निबंध का विषय—इसका भी बहुत बड़ा प्रभाव शैली तथा लेखक पर पड़ता है—

(५) लेखक का दृष्टिकोण, मंतव्याभिप्राय अथवा उसका उद्देश्य या लक्ष्य—इसका तो प्रभाव इतना प्रौढ़ और स्थायी होता है कि एक ही विषय भिन्न भिन्न दृष्टि से देखा तथा लिखा जा सकता एवं जाता है। इस जटिलता के होते हुये भी कुछ व्यापक बातें कही ही जा सकती हैं जो अभ्यास करने वाले विद्यार्थी के लिये बड़ी सहायक होंगी।

हमें यह अच्छी तरह ज्ञात है कि किसी भी बात को आकस्मिक ढंग से न उठाना या न प्रारम्भ करना चाहिये, वरन् प्रथम कुछ ऐसी बातें उठानी चाहिये जिनसे अपनी मुख्य बात का सूक्ष्म परिचय या उदय हो जावे, बस इसी को भूमिका देना कह सकते हैं। इससे एक विशेष प्रकार की रोचकता तथा रुचि में उत्तेजना आ जाती है, भूमिका देना इसीलिये आवश्यक है, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो। भूमिका का स्थान निबंध के कलेवर में वही है जो मुख का शरीर में। मुख पर ही रूप, रंग तथा शरीर का आन्तरिक भाव प्रतिबिंबित होता है, मुख ही सौंदर्य तथा विकास-प्रतिभा का प्राधान आकर्षक स्थान तथा शरीर-विकास या स्वास्थ्य का परिचायक होता है। मुख, कह सकते हैं, सारे शरीर का मुख्यांग तथा दर्पण है, इस पर सारी देह की छाया पड़ती तथा झलकती रहती है, इसी से मानसिक भावों का प्रस्फुटन एवं प्रकाश होता है। बस ठीक इसी प्रकार का हाल भूमिका का भी है। इसी भूमिका में सारे निबंध की छाया झलकती रहती है और

समस्त प्रबंध इसी के आधार पर ठहरा रहता तथा अग्रसर हो चलता है, अतः भूमिका का स्थान बहुत ही महत्व पूर्ण है, इसमें सफलता मिलना मानों निबंध में सफलता मिलना है। भूमिका के द्वारा लेखक को चाहिये कि अपने पाठकों को वह अपनी भाषा, शैली, नीति तथा विचार-शृंखला से परिचित करा दे। अपने अभिप्रायोद्देश्य, सिद्धान्त तथा विषय पर अपने पाक्षिक मत की उदार विज्ञप्ति इसी भूमिका में दे दे और अपने तर्क-बल तथा कला-चातुर्य को भी प्रगट करते हुये विषय की स्पष्ट घोषणा कर दे। जिस शैली से वह भूमिका का प्रारम्भ करता है उसी शैली का उसे आद्योपान्त निर्वाह करना चाहिये। ऐसा न करने से निबंध में एकता न रह जायेगी, जो एक बहुत आवश्यक और अनुपेक्षणीय बात है। अतः भूमिका को बहुत विचार पूर्वक, सँभालकर एवं सचेत हो कर लिखना चाहिये।

अच्छी भूमिका पाठकों के हृदयों को खींच लेती तथा उनकी रुचि और उत्कंठा को उत्तेजित कर देती है, वे आकर्षित हो जाते हैं। विपरीत इसके बुरी भूमिका उनके मन, मस्तिष्क तथा विचारों को बिगाड़ देती है और वे विमन हो लेख की उपेक्षा करने लगते हैं। अपने मुख्य मुख्य विचारों को यथाक्रम रखना भी एक प्रकार की भूमिका लिखना है, वे ही विचार फिर निबंध के कलेवर में विस्तृत रूप धारण कर स्पष्ट और सुबोध हो जावेंगे।

भूमिका का रूपः—भूमिका का आकार-प्रकार निबंध के अनुपात से होना चाहिये। भूमिका न तो बहुत विस्तृत ही हो—नहीं तो कलेवर भी बढ़ाना पड़ेगा और पाठक पढ़ते २ ऊब उठेंगे तथा अन्यान्य समयलाघवादि की कठिनाइयाँ आ जावेगी—और न बहुत छोटी ही हो। सीधे सादे, सरल और स्पष्ट रूप से उसे सुबोध ही होना चाहिये। हाँ उसमें शैली-चातुरी से आकर्षण तथा सौन्दर्य रख देना अच्छा है। यदि विषय विवाद-ग्रस्त है तो भूमिंका में लेखक को उचित है कि अपने सिद्धान्त, पक्ष या दृष्टि-कोण का प्रकाश न कर दे, फिर निबंध के मध्य में अन्यान्य मतों या पक्षों को देते हुए आगे बढ़े और अपने पक्ष का प्रतिपादन करे। इसी में वह अपने अभिप्राय तथा विशेष भावों या अर्थों को जिन्हें वह किसी पद से लेता है, स्पष्ट कर दे।

किसी विस्तृत विषय के सम्बन्ध में वह अपनी भूमिका के द्वारा यह बता सकता है कि उस विषय के किस अंश या रूप को वह उठायेगा। यदि किसी विषय को स्पष्ट या सुबोध करने के लिये कुछ अन्य, वाह्य और आधार भूत बातों के देने की आवश्यकता हो तो उन्हें भी इसी भूमिका में दे देना उचित है।

प्रारम्भ में कोई उपयुक्त लेखांश (किसी प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध लेखक के लेख से) या कोई विलक्षण चमत्कार पूर्ण वाक्य ऐसा देना चाहिये जो पाठकों के ध्यान को समाकृष्ट कर ले और उनकी रुचि एवं उत्कंठा को उत्तेजित कर दे, किन्तु यह विद्यार्थियों के

लिये सुलभ नहीं। कभी किसी लोकोक्ति या प्रश्नोत्तर से भी निबंध का श्री गणेश किया जाता या जा सकता है, परन्तु इसमें भी चातुरी की आवश्यकता है। व्याख्या-विषय को एक वाक्य के रूप में देना उचित नहीं, हां विषय को सीधे सीधे उठा कर दे सकते हैं, यह प्रणाली कुछ लेखकों में पाई भी जाती है।

भूमिका की सीमा और परिमाण:—इस विषय में भी कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं दिया जा सकता। भूमिका एक वाक्य से लेकर अनेक पृष्ठों की भी हो सकती है, इसकी सीमा और इसका विस्तार पूर्णतया विषय की प्रकृति पर ही निर्भर है। जिस समय समस्त विषय और निबंध का सारा भार किसी सिद्धान्त या व्यापक भाव पर निर्भर रहता है तब भूमिका, जिसमें सिद्धान्त स्पष्ट किया या खोला जाता है, कुछ बड़ी और विस्तृत हो जाती है। अन्यान्य विषयों के लिये भूमिका कुल निबंध के षष्ठांश से प्रारम्भ होकर अर्द्ध भाग तक की मात्रा में प्रर्याप्त समझनी चाहिये। इससे अधिक भूमिका देना उचित नहीं। यदि विषय कुछ पारिभाषिक शब्दों वाला है तो भूमिका में या उसके आदि, अन्त में, पारिभाषिक व्याख्या के रूप में एक और विभाग रख उसमें परिभाषादि का स्पष्टीकरण कर देना चाहिये, यदि उचित और उत्तम परिभाषायें न दी जा सके तो शब्दों के भावार्थ को ही पूर्ण रूप से प्रकाशित कर देना चाहिये। ऐसी दशा में भूमिका कुछ अवश्य बढ़ जावेगी, परन्तु

होगी वह बहुत स्पष्ट, उदार और सुबोध। जैसे हो और जितने में भी हो भूमिका के द्वारा विषय के मार्ग को स्पष्ट, सुगम और सुबोध बना लेने का ध्यान रखना उचित है।

विकास या कलेवरः—यही निबन्ध का मुख्य भाग है, या यों कहिये कि यही मुख्य निबंध है। इसलिये निबंध का अधिकांश इसी में दिया जाना चाहिये और वे सब बातें जो भूमिका में दी गई हैं इसी भाग में स्पष्ट रूप से विकासित की जानी चाहिये। विषय की प्राचीनता, उसका उद्गम, उसकी नूतनता या मौलिकता तथा उसकी व्यापकता आदि का पूर्ण विवेचन यहीं किया जाना चाहिये। अपने विषय को अपने दृष्टि-कोण एवं अभिप्राय से युक्तियों और पुष्ट प्रमाणों के द्वारा प्रतिपादित करना तथा विपक्ष का खंडन करना चाहिये, और उदाहरण, दृष्टान्त तथा सादृश्य मूलक उपमादि की सहायता से अपने विषय को स्पष्ट और सुबोध कर देना चाहिये, साथ ही बड़े २ विद्वानों की अनुमतियाँ जो अपने विषय को समर्थित करती हों शाब्द प्रमाण के रूप में देना चाहिये।

कभी २ कुछ हिस्सा या विषय-सम्बन्धी कुछ बातें ऐसी आ पड़ती हैं कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वे भूमिका या विकास किस के सम्बन्ध में है। किन्तु यह सरलता से ज्ञात हो सकता है यदि हम भूमिका की प्रकृति और उसका मर्म जान लें। भूमिका का कार्य मुख्यतया दो प्रकार का है:—

या तो भूमिका व्याख्या के विषय की सूचना देती है और उसका उदय करती है। किन्तु विषय से सीधे सीधे कोई सम्बन्ध नहीं रखती, यहाँ तक कि यदि उसे हटा या निकाल दिया जाये अथवा उसके स्थान में कोई दूसरा लेखांश, जो उस विषय से सम्बध रखता है, रख दिया जावे तो निवन्ध में कोई विशेष अन्तर न पड़ेगा। दूसरा कार्य जो भूमिका करती है वह है कि (२) यह निवन्ध के विषय को स्पष्ट रूप से समझाती है और उसका एक आवश्यक अंग सी बन कर इतनी महत्ता रखती है कि यदि उसे निकाल दें या उसके स्थान पर कोई दूसरा अंश रख दें तो निवन्ध की एकता (Unity) एवं यौक्तिक क्रम बिगड़ या नाश हो जायेगा।

यों तो भूमिका में किसी प्रकार का भी परिवर्तन निवन्ध की एकता का वाधक ठहरता है परन्तु उपर्युक्त का तात्पर्य यह है कि प्रथम दशा में भूमिका निवन्ध का कोई अंग नहीं बनती, परन्तु दूसरी अवस्था में वह निवन्ध के साथ अंगांगी तथा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखती है। इसी दूसरी अवस्था में भूमिका अपने नाम, गुण एवं अर्थ को चरितार्थ करती है। चाहे हम इसे किसी प्रकार भी लें, निवन्ध-विकाश या कलेवर ही मुख्यांग ठहरता है, इसके बिना निवन्ध कुछ भी नहीं रहता चाहे, उसमें कितनी ही अच्छी भूमिका तथा कितना ही अच्छा फल या परिणाम क्यों न उपस्थित हो। भूमिका के बिना निवन्ध की सत्ता विशेष नहीं नष्ट होती, हाँ

उसका कलेवर एक अंग से विहीन सा अवश्य दिखाई पड़ता है।

एक और आवश्यक बात का ध्यान रखना उचित होगा। वह बात यह है कि यदि निवन्ध बहुत बड़ा, विवाद-विषयक या ऐसा है कि उसमें बहुत पक्षापक्ष के झगड़ों की उलझने हैं तो यही अति उत्तम होगा कि उचित समयों तथा उपयुक्त स्थानों पर मुख्य सिद्धान्त तथा बातें सारांश के रूप में दे दी जाया करें, परन्तु ऐसा निष्कर्ष एक या दो पैराग्राफ से अधिक में न किया जावे। इसकी उपयोगिता यह होगी कि पाठक विवाद की जटिल जालिका में फँस कर भी मुख्य सिद्धान्त-सूत्र या प्रधानाभिप्राय-सूचक बातों को भूल न सकेंगे। लम्बे चौड़े निवन्ध में तो जहाँ एक बात या विवाद-शृखला की कड़ी समाप्त हो और दूसरी का प्रारम्भ हो वहां भी स्मृति में जागृतिकारी ऐसी सूचना दे देना बहुत ही उपयुक्त होगा। इस प्रकार के सारांश पूर्ण प्रसंगों से पाठक को एक प्रकार से स्मृति में नव जागृति करी स्फूर्ति तथा कल्पना एवं विवेक-बुद्धि (सद्सदावलोकिनी प्रत्पुत्पन्न मति) में उत्तेजनाकारी विश्राम सा मिल जायेगा और वह विवाद की मुख्य बातों को कदापि न भूलसकेगा चाहे विवाद कैसा ही जटिल एवं क्लिष्ट क्यों न हो। साथ ही उसे उस विषय में अपनी ओर से भी बहुत कुछ सोचने विचारने तथा निर्णय करने का प्रर्याप्त अवकाश मिल जायेगा और वह नवोत्साह तथा नवोत्कँठा के साथ अग्रसर होता चलेगा।

ध्यान रहें कि यह विकास-भाग प्रत्येक निबंध में बहुत प्रधान

एवँ महत्व पूर्ण रहता है अतः इसमें अत्यधिक आवश्यकता है:—

(१) एकता (Unity)—अर्थात् विविध बातों को बिना किसी प्रकार के अन्तर या व्यवधान के एक सूत्र में गुम्फित करने तथा उनको एक पूर्ण कलेवर के रूप में (जो अँगों प्रत्यँगों से बना है) रखने की।

(२) अविरल यथाक्रमता (Continued order) एक सिलसिले की, जिसमें कहीं पर भी जोड़, मरोड़ तथा विलगता न प्रगट हो।

(३) यौक्तिक क्रम (Loglcai Sequence) या तर्क के नियमानुकूल समस्त बातों की क्रमानुसार सम्वद्धता तथा सुसम्मलित संगठन की।

(४) समस्त भागों एवं विभागों में एक उपयुक्तोचित समानुपातात्मक सीमा या विस्तार को नियमित रूप से निर्धारित रखने की।

इस मुख्य कलेवर के पश्चात् अब हमारा वह भाग आता है जिसे निवन्ध का अंत, परिणाम या फल कहते हैं।

३—परिणाम (फल) :—निवन्ध की दृष्टि से यह भाग सब से कम आवश्यक प्रतीत होता है परन्तु पाठकों तथा श्रोताओं की दृष्टि से यह भाग भूमिका के समान ही आवश्यक है। जिस प्रकार भूमिका के द्वारा लेखक अपने पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट कर अपने पक्ष में खींच लाता तथा उन्हें अपने पक्ष का

अनुमोदक एवं समर्थक बना लेता है और अपना आतंक उनपर जमाकर अपने विषय में उनके विचार अच्छे कर लेता है उसी प्रकार अच्छे परिणाम के द्वारा वह अपने पक्ष, अपने सिद्धान्त एवं अपनी अनुमति को स्पष्ट कर उनमें सुदृढ़ रूप से बैठा पैठा देता हैं और वे उसकी ओर झुककर मुक्त कंठ से उसके विवेक, ज्ञान, तर्क, भाषा-शैली. एवं युक्ति-चातुर्यादि की भूरि भूरि प्रसंशा करने के लिये वाध्य हो जाते हैं।

अतः आवश्यक यह है कि लेखक जितना श्रम तथा कष्ट भूमिका के बाँधने एवं कलेवर को कामनीय करने में करता है उतना ही परिणाम को सुधारने या सँवारने में भी करे। बुरा, भद्दा और अनुपयुक्त परिणाम देना वैसा ही है जैसे कि लोकोक्ति में कहा गया है कि "सब खीरा खाकर, पीछे कडुआ"। ध्यान रहे कि पाठकों के मनों में भूमिका तथा कलेवर का वहुत कम भाग अपने पूर्ण प्रभाव एवं ओजातंक के साथ शेष रहेगा, जब कि वे परिणाम पर पहुंचेंगे, परन्तु उनके ध्यान में वे बातें खूब जोरों से जमी रहेंगी जो हाल ही में उन्होंने पढ़ीं हैं। बिना समय एवं विस्मृति के व्यवधान के ऐसा ही होना स्वाभाविक है। इसी कारण परिणाम का भाग इतना महत्त्व एवं प्रभाव पूर्ण माना जाता है। इस भाग में लेखक को चाहिये कि वह भूमिका तथा अपने शीर्षक से अपने इस अंतिम भाग को मिला कर उनके साथ इसे पूर्णतः संगुम्फित एवं सम्बद्ध कर दे। साथ ही अपने पक्ष, सिद्धान्त, एवं मत को एक बार फिर स्पष्ट

और सुबोध बना दे जिससे वह पाठकों के मन-मस्तिष्क में खूब रम, जम जावे। जटिल विवाद और अनेकानेक प्रकार से विषय की विवेचना कर चुकने पर जिस मुख्य या मूल बात पर लेखक आता है उसे यहाँ स्पष्ट कर दे, साथ ही अपने उद्देश्य, अभिप्राय एवं दृष्टिकोण की पुनः स्वच्छंद सूचना दे दे।

इस भाग के द्वारा लेखक अपने लेख से बहुत से दोषों और भूलों को छिपा सकता है, तथा यदि उसकी बुरी भूमिका से पाठकों का विचार कुछ बिगड़ गया है तो उसे लेखक अपने इस अंश से सुधार सकता है। परिणाम ही के द्वारा वह अपने निबन्ध के दोषों को सुधार सकता है, यहीं तक उसे ऐसा करने का अवकाश है इसके पश्चात् उसके कथन की इति श्री ही हो जाती है, तब कुछ भी कहने का अवकाश नहीं। परिणाम के द्वारा पाठकों की जो अनुमति एवं धारणा लेखक के विषय में बनती है वही अंतिम, मुख्य और स्थायी हो जाती है।

परिणाम देने का विधानः—इस विषय में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह पूर्णतः लेखक की शैली तथा कला-चातुरी आदि पर ही निर्भर है, तौभी कुछ सर्वसाधारण एवं व्यापक ऐसी बातें कही जा सकती हैं जो लेखन-कला में अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों के लिये प्रारम्भिक अवस्था में उपादेय हो सकेंगी। लेख की अंतिम पूर्ति की जा सकती हैः—

(१) सूक्ष्म रूप से समस्त विषय का सार या निष्कर्ष देने सेः—जैसा ऊपर कहा गया है सारे लेख को सूक्ष्म रूप में रख कर पाठकों को एक सम्बद्ध और यथाक्रम सार व्याख्या के द्वारा विषय से पूर्णतः परिचित करा देना अच्छा होता है। थोड़े ही में सब तत्व ज्ञात हो जाता है और विवाद की जटिलता जनित उलझन स्पष्ट हो जाती है। पाठकों के मन में लेखक का पक्ष या सिद्धान्त स्थिरता से रम जम जाता है। यह शैली उन निबंधों में बहुत उपयुक्त होती है जो विवाद-पूर्ण और तर्कात्मक होते हैं।

(२) पाठकों की रागात्मिका मनोवृत्तियों को उत्तेजित करने वाले कथन सेः—यह ढंग उस दशा में तथा उस प्रकार के निवन्धों के लिये उचित है जो भावनात्मक भावों से भरे पूरे हैं, जिनमें मनोवृत्तियों या मनोविकारों (Feelings and Sentiments) पर ज़ोरदिया गया है। यदि लेखक इस प्रकार के कथन से पाठकों के हृदयों को आकृष्ट कर सकता है और उनकी भावनाओं को अपने वश करके उन्हें अपने साँचे में ढाल सकता है या ऐसा करना वह अपने पक्ष एवं उद्देश्य के उपयुक्त समझता है तो यह शैली अवश्य ही बहुत उपयोगी होगी। किन्तु तार्किक निबन्धों में जहाँ तर्कनाशक्ति पर ज़ोर दिया जाता है और मनोवृतियाँ शान्त रक्खी जाती हैं, इस ढंग का व्यवहार करना उचित नहीं। यदि तर्कना-शक्ति की सहायता के लिये रागात्मिका वृत्तियाँ उपयुक्त हैं तो कोई भी हानि नहीं।

(३) लेख का सारांश दे कर अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उसी विषय पर किसी विद्वान एवं प्रख्यात लेखक के लेखांश देने से :—विवाद-ग्रस्त विषयों में अपने पक्ष के समर्थनार्थ तथा उसकी पुष्टि के लिये ऐसा करना ठीक है, परन्तु ध्यान रहे कि कि इस प्रकार का पक्ष-परिपोषक-लेखांश सब प्रकार प्रसंगानुकूल और उचितोपयुक्त हो तथा वहाँ पर पूर्णतः बैठ या लागू होजाता हो। यह शैली विद्यार्थियों के लिये सुलभ साध्य नहीं, अतः छोड़ी जा सकती है।

(४) किसी उपयुक्त, उचित और उपयोगी अनुमति, परामर्ष एवं उपदेश-पूर्ण कथन से :—किसी नवीन खोज की ओर पाठकों को अग्रसर करने वाले कथन, या विषय को किसी नवीन नीति-रीति से अध्ययन करने की अनुमिति या भविष्य की उदार एवं स्वतंत्र सूचना देना, जो भूत और वर्तमान के ज्ञान से प्राप्त की गई है, अथवा यदि विषय धार्मिक, तथा दार्शनिकादि में से है तो पाठकों को ईश्वरोन्मुख करने वाले वाक्यों से इतिश्री करना ठीक होता है। ध्यान रहे कि इस प्रकार का अंत या अवसान गंभीर एवं गूढ़ विषयों में होता है।

लेखन-शैली

शैली की परिभाषा:—संस्कृत के विद्वानों एवं लेखन-कला-तत्वज्ञों ने रीतियों का तो विवेचन किया है, किन्तु शैलो के विषय में कुछ अच्छा प्रकाश नहीं डाला। हमारी भाषा में चूँकि गद्य का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही भली प्रकार चलता है और इधर के समय में ही इसमें स्फूर्ति आई है, इसके प्रथम साहित्य में पद्य का ही प्राधान्य था, इसलिये कह सकते हैं कि बस इधर के समय से ही शैली के विषय में कुछ कार्य विद्वानों के द्वारा किया गया है, इसमें भी अंग्रेजी भाषा का प्रभाव विशेष है। अद्यापि हमारी हिन्दी भाषा का गद्य-साहित्य, यद्यपि बहुत कुछ विकसित, परिवर्धित और परिमार्जित हो चला है, तौ भी कुछ बहुत उच्चकोटि का तथा बहुत विस्तृत और विकसित होकर परिष्कृत नहीं हो सका है, हाँ इसकी कमी की पूर्ति हो रही है और लोगों का ध्यान इस ओर पर्याप्त रूप से समाकृष्ट अवश्य हुआ है।

हिन्दी-गद्य अभी बहुत उच्चकोटि का नहीं बन पाया और न अभी तक इसका रूप ही पूर्णतया निश्चित हो सका है, तौ भी वह विकास की ओर द्रुतिगति से अग्रसर हो रहा है। देश, काल और परिस्थिति के परिवर्तन का प्रभाव इसकी उन्नति करा रहा है। विद्वान लोग इसके परिमार्जन, संस्कार, तथा विकास करने में

लगे हुये हैं । विद्वान तथा बड़े आदमी, यह सभी को पूर्णतया ज्ञात है, अपने भावों एवं विचारों को एक विशेष चमत्कार-पूर्ण ढंग से व्यक्त करते हैं, बस उनके इस कार्य से ही शैली की उत्पत्ति होती है, और साहित्यिक भाषा का रूप भिन्न २ प्रकार का हो जाता है, उसके भिन्न २ मार्ग, उसकी भिन्न २ रीतियाँ, नीतियाँ तथा उसके विविध प्रकार के आकार-प्रकार, रंग ढंग आदि हो जाते हैं ।

अतः शैली की परिभाषा में हम कह सकते हैं कि वह भावों के प्रकाशन की एक चमत्कार-पूर्ण रीति है। वह एक विशेष प्रकार का मनोरंजक ढंग है। डा० ब्लेअर का कहना है कि "सब से अच्छी परिभाषा जो मैं शैली की दे सकता हूँ यह है कि "शैली भाषा के द्वारा अपने विचारों या भावों को प्रगट करने का एक विचित्र ढंग या रीति है । भाषा और शब्दावली से यह पूर्णतया पृथक है, क्योंकि शब्द तो किसी लेखक के उपयुक्त और दोष-रहित हो सकते हैं परन्तु उसकी शैली तो भी दोष-युक्त हो सकती है।" (हाँ भाषा और शब्दों से शैली का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध अवश्य है, तोभी शैली अपनी पृथक और भाषा एवं शब्द अपनी २ पृथक सत्ता रखते हैं) शैली शरीर के परिधान के समान अपना अलग अस्तित्व रखती है। डा० ब्लेअर कहते हैं कि "लेखक के सोचने एवं विचार करने के ढंग से सदैव ही शैली का सम्बन्ध है, वह भावों और उनके उठने के ढंगों की प्रतिकृति या छाया अथवा उनका चित्र है, अतः किसी लेखक

के लेख को विचारते हुये बहुधा हमारे लिये यह अत्यंत कठिन हो जाता है कि हम उसकी शैली को उसकी भावनाओं एवं मनोवृत्तियों (Sentiments) से पृथक देख सकें। अतएव प्रकाशन का वह रूप या उसकी वह रीति शैली कहलाती है जिससे विचार या भाव उठकर तत्काल ही भाषा के साथ एकता ग्रहण कर लेतेहैं।

लेखन-कला में तो रचना-चमत्कार का ही नाम शैली है। भाषा का यह व्यक्तिगत प्रयोग, ढंग या रूप है ऐसा भी इसकी परिभाषा में कहा जा सकता है। चमत्कार-पूर्ण शब्दयोजना, वाक्यांशों का चातुर्य-पूर्ण प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि भी शैली के अन्दर आते हैं। शैली के द्वारा भाषा में व्यक्त किये हुये भावों, विचारों और कल्पना-कौतुकों में परिपक्वता तथा वैलक्षण्य के साथ ही साथ रूप-सौंदर्य से एक विशेष मनोरंजकता तथा आकर्षण आ जाता है।

शैली का सम्बन्ध इससे नहीं कि लेखक को क्या कहना है, अर्थात् निबंध की सामग्री क्या है, वरन् उसका सीधा सम्बन्ध इसी से है कि लेखक के कथन का रूप क्या है, उसने अपनी बात किस ढंग से रोचकता के साथ कही है। शैली से लेख के ओज, शैथिल्य, और प्रभावोत्पादन का ही तात्पर्य है, भाषा की निर्वलता, प्रवलता और सजीवता ही इसके मुख्य गुण एवं लक्षण हैं। भावों, विचारों एवं कल्पनाओं को स्वाभाविक सजीवता एवं यथार्थ स्पष्टता के साथ व्यक्त करने के चतुर ढंग ही को शैली का मार्मिक तत्व जानना चाहिये। अपने विचारों, भावों

एवं कल्पनाओं को पूर्ण प्रभाव के साथ दूसरों के हृदयों में पैठा बैठा देना ही शैली का कर्तव्य एवं प्रयोजन है।*

अच्छी शैली के तत्व या आधार:—प्रौढ़ शैली का सौष्ठव एवं सौंदर्य निम्न बातों के ऊपर निर्भर रहता है—

(१) नियमित एवं निश्चित किये हुये परिमार्जित शब्दों के चुनाव।

(२) शुद्ध और सुन्दर चातुर्य-पूर्ण वाक्यावली।

(३) मनोरंजक भाव-प्रकाशन-रीति।

इनमें से प्रत्येक की सूक्ष्म विवेचना हम पाठकों के साधारण ज्ञान के लिये यहाँ दे देते हैं।

शब्दों के विषय में:—सार्थक शब्दों का समूह ही भाषा का सच्चा रूप है। भाषा शब्दों ही से बनी व बनती है। शब्द हमारे भावों एवं विचारों के चिन्ह, प्रतिनिधि या चित्र हैं। एक विशेष क्रम से संगुम्फित हो कर ये हमारे मानसिक भावों को व्यक्त करते हुये दूसरों तक पहुंचाते हैं। अतः शब्द ही मूल तत्व हैं, इन्हीं के सुप्रयोग को शैली का सच्चा सार समझना चाहिये। शब्दों का सुप्रयोग, उनमें भवगम्यता तथा उनकी संख्या में भावोचित न्यूनता का लाना अभ्यास और ज्ञानानुभव की प्रौढता पर ही निर्भर है। शब्दों की महत्ता तो निर्विवाद ही है, विशेषतः

*रचना-शैली का विस्तृत विवरण देखिये हमारे "गद्य काव्यालोक" या गद्य-कुसुमाञ्जलि में।

लेखक के लिये तो यह अनिवार्य ही है। जितना ही विस्तृत एवं वृहत् कोष सार्थक शब्दों का किसी लेखक के पास होगा उतनी ही अधिक सफलता उसे लेखन-कला तथा भाव-प्रकाशन में प्राप्त होगी। हाँ यह आवश्यक है कि शब्दों के चुनाव, उनके उपयुक्त प्रयोग और उनकी सुन्दर व्यवस्था में अच्छा अभ्यास एवं परिचय हो। नहीं तो कोई भी लाभ नहीं। शब्दों का परिचय और उनका वृहत् कोष ही पर्याप्त नहीं, केवल इन्हीं के द्वारा कोई अच्छा लेखक नहीं हो सकता। देखा जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में शब्दाडम्बर विशेष होता है और भावों की न्यूनता रहती है। एक भाव को व्यक्त करने के लिये अनेक (व्यर्थ के) शब्द आ जाते हैं। इसके विपरीत जब उस लेखक का ज्ञानानुभव तथा भाषा से परिचय प्रौढ हो चलता है तब यह बात धीरे २ घट चलती है और मध्यमावस्था में शब्दों और विचारों में साम्य आ जाता है और फिर शनैः शनैः अभ्यास एवं ज्ञानानुभव की वृद्धि होती रहने पर इसमें भी कमी आ जाती है, यहां तक कि प्रौढावस्था में लेखक कुछ ही शब्दों में बहुतसा भाव भरने में समर्थ और सफल हो जाता है। उस समय वह अपने ज्ञानानुभव, भाषा-परिचय और निरंतर किये हुये अभ्यासाध्यवसाय से शब्दों को खूब अच्छाई और चतुराई से अपने भावों के अनुकूल चुन सकता है। यों उसकी शब्दावली खूब चुनी चुनाई और भावों से भरी पूरी हो कर उच्च कोटि की उपयुक्त और स्पष्टोत्तम हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि लेखक को शब्दों के चुनाव पर विशेष ध्यान देना

चाहिये। उपयुक्त शब्दों का सुप्रयोग उसके लिये अनिवार्यावश्यक है इससे उसके लेख में स्वाभाविक सजीवता, स्पष्टता, और सुन्दर मनोहर रचना-चमत्कार की छटा आ जावेगी, उसमें सत्यता तथा सौष्ठवपूर्ण भावगम्यता भी हो सकेगी। शब्दों का प्रचुर भंडार इसीसे सबसे अधिक आवश्यक सामग्री है, क्योंकि इसी की उपस्थिति में लेखक सरलता से शब्द चुन सकेगा। यदि ऐसा न होगा तो उसे शब्दों के ढूँढने और दूसरों से उधार लेने में ही बहुत सा समय और परिश्रम व्यर्थ ही में बरबाद करना पड़ेगा।

जिस प्रकार रुचि-वैचित्र्य से भावों में भिन्नता आ जाती है, उसी प्रकार रुचि के प्रभाव से शब्दों के प्रयोग में भी वैलक्षण्य आ जाता है। इसमें भी रुचि बहुत सहायता करती है। इसी रुचि-भिन्नता के कारण शैलियों में भी विचित्र विभिन्नता आ जाती है और विचारों के प्रकाशन के ढंग विविध और निराले हो जाते हैं। शब्दों के प्रयोग का ढंग भी इसीलिये आवश्यक और विचारणीय हैं। वाक्य में शब्दों का सजाना तथा उपयुक्त शब्दों को वाक्य रूपी माला में गुँफित करना कला-कौशल का काम है और इसी से रचना में चातुर्य तथा चमत्कार की छठा दिखाई पड़ती है। यद्यपि शब्दों में अपनी शक्ति विशेष मानी गई है और होती भी है फिर भी उस शक्ति का प्रकाश शब्दों के वाक्यों में प्रयोग किये जाने पर ही होता है। शब्दों की विशेषता, उनका महत्व, सामर्थ्य एवं प्रभाव तभी अच्छी तरह से ज्ञात होता है जब शब्द वाक्यों में सजाये जाते हैं।

अतः स्पष्ट है कि (१) शब्दों का उपयुक्त तथा उचित कला-पूर्ण चुनाव तथा (२) उनका वाक्यों में सुप्रयोग ही शैली तथा भाषा-कौशल के मूल तत्व हैं। इन दो बातों में जिसे पटुत्व प्राप्त हो जाता है उसे समझना चाहिये कि भाषा में आधिपत्य प्राप्त हो गया है।

शब्दों का प्रयोग :—शब्दों का सुप्रयोग सीखने के लिये उचित है कि अच्छे लेखकों के द्वारा किये गये उनके प्रयोग अनेक प्रकार के प्रसंगों एवं स्थलों में उनके अर्थों या भावों के साथ देखा, सुना या पढ़ा जाये। वाक्यों या लेखों में ही शब्दों की सजीवावस्था का अनुभव होता है, वहीं शब्दों की प्रयोग-सीमा तथा भावार्थ-विस्तार की पुष्कलता ज्ञात होती है और उनका अर्थों से साहचर्य तथा सहयोग-संपर्क विदित होता है, दूसरे शब्दों के साथ उनका सम्बन्ध तथा व्यवहार भी देखने में आता है। अतः शब्दों का सुप्रयोग सीखने, भाषा से पूर्ण परिचय प्राप्त करने एवं उसपर अपना अधिकार रखने के लिये आवश्यकता है:—
(१) विद्वानों से वार्तालाप करने तथा उनकी बात-चीत सुनने की (२) अच्छे प्रख्यात लेखकों एवं कवियों की कृतियों के मनन करने तथा समझने की (३) अच्छे कोष से सहायता लेने की (४) शब्दों के यथार्थ रूप, अर्थ तथा प्रयोग के शब्द-विज्ञान के द्वारा अध्ययन करने की (५) अनेकार्थ-वाची, तथा पर्यायी वाचक शब्दों के जानने की तथा (३)

अनुकरण-साहाय्य से बातचीत या लेख में शब्दों के प्रयोग करने की।

वाक्य-विन्यास :—शब्दों की सुव्यवस्थित, यथाक्रम, सुसम्बद्ध एवं भावपूर्णश्रृंखला को वाक्य कहते हैं। हम प्रथमही कह चुके हैं कि शब्दों में मानी हुई शक्ति, गुण एवं वृत्ति का विशेष ज्ञान हमें तभी होता है जब हम शब्दों को एक वाक्य-माला में सजा हुआ देखते हैं। वाक्य ही के द्वारा हमारे आन्तरिक भाव, विचार एवं कल्पनादि का प्रकाश या विकास होता है। इसी लिये वाक्यों तथा वाक्यों की रचना का स्थान भाषा-साहित्य और लेखन-कलादि में बड़ा ही महत्वपूर्ण है। रचना-शैली तथा रचना का चमत्कार-पूर्ण मनोरंजक कौशल, सुन्दर वाक्य-रचना पर ही निर्भर है। शब्दों के सुप्रयोग के, चूंकि यह एक मुख्य और सर्वाग्रगण्य अंग है, विषय में हम प्रथम ही पर्याप्त रूप से कह चुके है। अब हमें वाक्य-रचना एवं-विन्यास की कुछ सूक्ष्मावश्यक एवं मार्मिक विवेचना करनी है।

वाक्यों के महत्वपूर्ण तत्व दो हैं:—(१) चुने हुए उपयुक्त शब्द (२) उनका सुप्रयोग। इन दोनों बातों अर्थात् शब्दों के चुनाव और उनके उपयुक्त प्रयोग के विषय में हम प्रथम ही बहुत कुछ, यद्यपि सूक्ष्म रूप में, कह चुके हैं।

(२) वाक्यों की रचना, उनके विभाग और उनका संगठन-विन्यास के विषय में हम कुछ प्रधान एवं आवश्यक बातें

अपने विद्यार्थियों के लिये यहाँ दिये देते हैं जो उनके प्रारम्भिक अभ्यास के लिये पूर्णतया पर्याप्त हैं।

वाक्यों की रचना के विषय में वैय्याकरणों ने ख़ूब छान बीन कर विवेचना की है। उनके आकार-प्रकार भी निर्धारित किये हैं तथा उनकी नीति-रीति और उनके शुद्ध-रूपों के विषय में पर्याप्त सामग्री एकत्रित कर अच्छी गवेषणा के साथ रख दी है जो व्याकरण के ग्रंथों में सुलभ है। हमें यहाँ व्याकरण की दृष्टि से वाक्यों के विषय में कुछ नहीं कहना। हमें तो यहाँ यही देखना है कि वाक्य-विन्यास से किस प्रकार शैली बनाती है, उससे कैसे दूसरों पर प्रभाव पड़ता है, उसमें स्पष्टता, सजीवता, एवं यथार्थता कैसे आती है तथा वह कैसे भावों को व्यक्त करता और चमत्कार के साथ उन्हें मनोरंजक बनाता है।

वाक्यों की रूप-रचना:—(१) सब से उत्तम और प्रभाव पूर्ण वाक्य वह है जिसका अर्थ या भाव तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक वह वाक्य पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता, जिसके अंश या अंग (खंड या भाग Phrases) एक दूसरे के सहायक और अन्योंन्याश्रय सम्बन्ध से सम्बद्ध रहकर पूर्ण वाक्य को स्पष्ट करते हैं तथा अपनी सत्ता और महत्ता रखते हुये पूर्ण वाक्य के साथ अंगांगी भाव रखते हैं। वे सब मुख्य वाक्यांश को पुष्ट करते तथा हम में जिज्ञासा, उत्कंठा, और उत्सुकता उत्पन्न करते हुये हमें आकष्ट कर मूल भाव की ओर ले जाते हैं। पूर्ण वाक्य ही भाव को स्पष्ठ कर हमें संतोष देता है। ऐसे वाक्यों

को हम वाक्योच्चय कह सकते हैं—जैसेः—"मानव जीवन पर चाहे हम किसी भी दृष्टि-कोण से विचार करें, हमें अंत में यही एक मूलतत्व उसके उद्देश्य या लक्ष्य के रूप में मिलता है कि जीवन का सार और अभिप्राय केवल सत्यानन्द ही है।"

यहाँ अंतिम अंश प्रधान है और वह अन्यांशों से पोषित या पुष्ट होता है, समस्त वाक्य पढ़ कर ही भाव का स्पष्ट ज्ञान होता है। ऐसे वाक्यों में शब्दों की सुयोजना, उनका समीचीन संगठन और भाषा की भावात्मक प्रौढता से ही प्रभाव आता है। अतः शब्दों की सुयोजना (या सुशब्द-संगठन) तथा भाषा की प्रौढता ये दोनों गुण प्रधाना एवं आवश्यक है। ध्यान रखना चाहिये कि शब्द-संघटन में व्यर्थ के वाक्यांश-बाहुल्य से ऐसा दोष या ऐसी जटिलता न आने पावे कि वाक्यांशों की भूल-भुलैइयां एवं जटिल जालिका के कारण भाव ही लुप्तप्राय हो जावे तथा वाक्य-रचना जटिल और निरर्थक सी हो सुबोध एवं स्पष्ट न रहे। अतः वाक्योच्चय बहुत बड़े और लम्बे चौड़े न हों।

इनकी सीमा के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं दिया जा सकता, यह सर्वथा लेखक की रुचि, अभ्यास, कौशल तथा सौष्ठवादि पर ही आधारित है। हाँ यह कह सकते हैं कि विषय के अनुकूल इनकी सीमा निर्धारित की जा सकती है। गूढ और गंभीर विषय के लिये छोटे छोटे वाक्यों की सुगुंम्फित माला ठीक होती है क्योंकि उससे उसमें सुबोध स्पष्टता आ जाती है।

सरल एवं सीधे विषयों के लिये बड़े वाक्य रक्खे जा सकते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि बड़े वाक्य किसी प्रकार अनावश्यक वाक्यांशों से जटिल न होने पावें, उनसे पाठकों का मन न ऊब उठे तथा मुख्य भाव जटिल जालिका की उलझन से लुप्त-गुप्त होकर दूसरे गौण भावों की ओर न झुक जावे। वाक्यों में पारस्परिक सम्बन्ध को ख़ूब प्रगाढ़ रूप में ही होना आवश्यक है। जटिल विषयों में वाक्य छोटे २ होकर स्पष्टार्थ के प्रकाशक रूप में तो अवश्य रहें, किन्तु मूल भाव के वे परिपोषक भी हों।

(२) जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक सा रूप और आकार रखते हैं तब उनसे जो वाक्य बनता है उसे समीकृत वाक्य कह सकते हैं। इन वाक्यांशों का साम्य या सादृश्य या तो व्याकरणानुसार होता है या शैली, रचना-रीति, शब्दोच्चार एवं अवधारणानुसार होता है। इन वाक्यांशों के अर्थ एवं भाव भिन्न २ रहते हैं, तौभी वे मूलभाव पर बल पहुंचाते तथा उसी के सहायक और पोषक होते हैं। वाक्योच्चय के वाक्यांश, विपरीति इनके, समभाव-सूचक भी होते हैं। यही दोनों में अन्तर है। जैसेः—

"चाहे कोई हमें बुरा कहे या भला कहे, नीच कहे या अच्छा कहे हम अपने न्याय के पथ से लोक-नीति के कारण कदापि न पीछे न हटेंगे।"

ऐसे वाक्यों का प्रभाव-गुण दो प्रकार का होता है (१) वाक्य-

माला की साम्य रचना हमारी स्मरण शक्ति को सहायता देती है, और सम वाक्यांशों की आवृति एक प्रकार का चमत्कार-पूर्ण अनुप्रास सूचक आवृत्ति का मनोरंजन लाती है। (२) इनसे भाव में प्रौढता एवं प्रतिभा की जागृति हो जाती है। रूप-साम्य के होते हुये भी भाव-भिन्नता से मन में एक प्रकार का विशेष मनोरम विस्मय उत्पन्न होता है जिससे आकर्षण और प्रभाव का प्रादुर्भाव होता है, यह दूसरे प्रकार का प्रभाव है।

वाक्य में सबसे अधिक विचारणीय बात अवधारण की है, इसके सुसंस्थापन और संस्थान से वाक्य के भाव में विशेष वल एवं प्रभाव आ जाता है। अवधारणा के संस्थापन का तात्पर्य यही है कि वाक्य के किस भावांश पर वल पहुँचाना है और उसका प्रयोग कैसे करना है। साधारण नियम तो इस विषय में यही है कि जिस भावांश पर जोर देना है उसे या तो आदि में या अंत में देना चाहिए। आदि में रहने से वह ध्यान को आकर्षित करता है और अंत में रहने से वह स्मृति में अधिक समय तक ठहरता है। मध्यभाग में ही साधारण एवं अप्रधान वाक्यांश रखने चाहिये। इससे स्पष्टता और लालित्य आ जाता है।

संस्कृत भाषा के आचार्यों ने शब्दो में तीन प्रकार की शक्तियाँ, (१) अभिधा (२) लक्षणा और (३) व्यंजना मान कर उनके अर्थों में भेद और प्रयोग में चमत्कार-पूर्ण पार्थक्य स्थापित कर दिया है (१) अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द को सुनकर ही उसके एक अर्थ विशेष का ज्ञान होता है, इसकी सहायता

संयोग, वियोग, प्रसंग, साहचर्य, विरोध, चिन्ह, अर्थ-प्रकरण सामर्थ्य, औचित्य, स्वरभेद, देश और काल वल-भेदादि करते हैं (२) लक्षणा-वाक्य में शब्दों का मेल बैठाने के लिये इस शक्ति के द्वारा उसके मुख्यार्थ को छोड़ कर एक दूसरा अर्थ विशेष जो वहाँ बैठ जाता है, कल्पित कर लिया जाता है, जैसे "दीपक बढ़ा दो" अर्थात् दीपक बुझादो, (३) व्यंजना :—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्राप्ति इसी शक्ति से होती है, जैसे तुम्हारे चेहरे पर मूर्खता झलक रही है "यह सुन कर दूसरा व्यक्ति कहता है कि हाँ ठीक है, मेरा चेहरा एक स्वच्छ दर्पण ही तो है"। अब इन शक्तियों पर विचार रखते हुये उनका मत है कि उत्तम वाक्य वह है जिसमें व्यंजना शक्ति का प्राधान्य रहता है अर्थात् जिसमें व्यंगार्थ हो, क्योंकि इससे वाक्य में मनोरंजक चमत्कार आ जाता है। अतः उत्तम शैली भी व्यंगार्थ तथा व्यंजना शक्ति की अपेक्षा रखती है। अब इन शक्तियों के आधार पर अनेकानेक अलंकारों की कल्पना की गई है और उन्हें भाषा एवं शैली में अच्छा स्थान दिया गया है, किन्तु इस बात पर सदा ही ज़ोर दिया गया है कि इस शक्तियों और अलंकारों से भावोत्कर्ष तथा रसोद्रेक अवश्य हो (इस को हमारे यहाँ बहुत उच्चस्थान दिया गया है, विशेषतया काव्य में)।

शब्द, गुण और वृत्ति :—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद ये तीन गुण प्रधान माने गये हैं, इनको उत्पन्न करने वाली शब्द-रचना

को वृत्ति कहते हैं, जो गुणों के अनुसार मधुरा, परुषा और प्रौढा तीन प्रकार की होती हैं। इन सबके आधार पर वाक्य-विन्यास या पद-रचना की भी तीन ही मुख्य रीतियाँ मानी गई हैं, जो उन्हीं देश के नामों से विख्यात हैं जहाँ के लेखक उनका प्रयोग विशेष रूप से किया करते थे—(१) वैदर्भी, (२) गौड़ी और (३) पांचाली।

इनका विशद विवेचन संस्कृत के ग्रन्थों में मिलता है, हम इसलिये उसे यहाँ नहीं देते, क्योंकि ये सब संस्कृत भाषा पर विशेष रूप से लागू होती हैं, हिन्दी भाषा पर इनका प्रभाव कुछ विशेष नहीं, क्योंकि हमारी हिन्दी भाषा के गद्य पर अंग्रेजी भाषा तथा उसकी गद्य-शैलियों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ चुका तथा अब भी पड़ रहा है। साथ ही इन गुणों, रीतियों और वृत्तियों का सीधा सम्बन्ध काव्य-भाषा से है, पद्य के ही क्षेत्र में इनका पूरा नर्तन मिलता है, कविता में ही इनका विपिन खिलता है, क्योंकि हमारा संस्कृत-साहित्य विशेषतया काव्यमय ही है। हम इसीलिये इन्हें गद्य-क्षेत्र से बाहर तथा संस्कृत के लिये उपयुक्त जान कर इनका विवेचन यहाँ नहीं करते।

अलंकारिक शैली:—भाषा रूपी कलेवर की सौंदर्य-वृद्धि अलङ्कारों से होती है, साथ ही इनसे भाषा में उत्कर्ष, रोचक आकर्षण, चमत्कार-पूर्ण सौष्टव तथा रसभावादि

में उत्तेजना आ जाती है। किन्तु इनके अस्तित्व को स्वाभाविक भाषा, शब्द तथा वाक्य-विन्यास से पूर्णतः पृथक ही समझना चाहिये। आभूषणों के समान ये बाहर से आकर भाषा की शालिमा बढ़ा सकते हैं अवश्य, परन्तु ये उसके मुख्यांग नहीं हो सकते। इनका बिस्तृत वर्णन पाठकों को अलङ्कार-ग्रन्थों में मिल सकता है, अस्तु, यहां आने की अनावश्यकता रखता है। हम यहां इस सम्बन्ध में यह अवश्य कह देना चाहते हैं कि अलङ्कार पूर्ण गद्य एक प्रकार का गद्य-काव्य हो जाता है, जिसका क्षेत्र दूसरा है और यहां विवेचनीय नहीं है। हां हम यह भी साथ ही साथ यहाँ पर कह सकते हैं कि कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जिनका प्रयोग हमारे गद्य में भी बहुत प्रभावोत्पादक, मनोरञ्जक तथा चमत्कार-पूर्ण होता है और उनसे भाषा में एक विशेषाकर्षण एवं सौष्ठव आ जाता है। साम्य, विरोध और सान्निध्य इन तीनों से हमारी प्रज्ञात्मक वृत्तियां प्रभावित होती हैं, अतः इन तीनों पर आधारित अलंकार जैसे उपमा, विरोध, तद्गुण एवं तद्रूपादि हमारे गद्य में आ सकते हैं, साथ ही अर्थ को उत्कर्ष देने वाले तथा कल्पना को उत्तेजित करने वाले अलंकार भी हमारी गद्य-शैली में अपना खेल कर सकते हैं, जैसे, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमकादि अलंकार। अनुप्रासादि का भी प्रयोग हम गद्य में भी, आवृति-आनन्द शब्द-संगठन-चातुरी तथा पद-रचना-वैचित्र्यादि से मनोरंजन चमत्कार लाने के लिये कर सकते हैं, परन्तु प्रायः ऐसा

करने से भाषा की नैसर्गिकता एवं स्पष्टता जाती रहती है। हमारा तात्पर्य यह है कि भावों, विचारों, अर्थों तथा कल्पनादिकों में उत्कर्ष लाने के लिये हम अलंकारों का सुप्रयोग कर सकते, और कभी कभी पाठकों को समाकृष्ट करने तथा उन्हें कुछ मनोरंजक चमत्कार दिखलाने के लिये भी हम चुने हुये सुन्दर अलंकारों को अपनी शैली में ला सकते हैं, परन्तु हमें ध्यान रखना चाहिये कि इनके प्रयोग से हमारी भाषा में जटिलता, दुर्बोधता, क्लिष्टता, तथा अस्वाभाविकता न आने पावे, शैली न बिगड़ने पावे और भावार्थों में कृत्रिमता तथा असत्यता न झलकने लगे।

पद-विन्यासः—वाक्य-विन्यास का परिवर्धित रूप हमें पद-बिन्यास में मिलता है, पद-बिन्यास से हमारा अभिप्राय वाक्यों के समूह से है जो सुव्यवस्थित, सुसंबद्ध सुसंगठित या संघटित हो। वाक्यों में जिस प्रकार शब्द चुने जाकर फूलों के समान उपयुक्त स्थानों पर बिठाये जाते हैं, जिससे उनसे मिलकर एक सुन्दर सुसंबद्ध एवं सुव्यवस्थित माला या श्रंखला बन जाये जो अपने सम्बन्ध और संक्रमण से स्पष्ट और सुबोध होकर पुष्ट और मनोरम प्रतीत हो।

वाक्यों की गति सदा ही बहुत सरल और आसानी से चलने या आगे बढ़ने वाली होनी चाहिये. एक पद से दूसरे पद में क्रमशः भाव-बिकास होना और श्रङ्खला का टूटना

न चाहिये। इसके लिये हमें संयोजक और वियोजक शब्दों का सुप्रयोग करना अत्यावश्यक है।

शब्द-चयनः—अच्छा शब्द-चयन ही महत्व एवं प्रभाव पूर्ण होता है यह हम ऊपर देख आये हैं, अब देखना है कि यह किसपर निर्धारित हैं। अच्छे शब्द-चयन के लिये विद्वानों का मत है कि तीन बातें बहुत आवश्यक हैं:—

(१) स्पष्टता या शुद्धता।

(२) सत्प्रयोग (Propriety)

(३) यथार्थता (Precision)

(क) **स्पष्टता** (शुद्धता):—जो शब्द चुने जायें वे शुद्ध, और स्पष्टार्थ देने वाले हों, उनसे संदिग्धार्थ की दुर्गन्ध न आने पावे, वे अपने सत्य रूप में रहें तथा लौकिक प्रयोग के सूचक हों। वे उस भाषा के शुद्ध शब्द हों जिसका प्रयोग लेखक कर रहा हो। दूसरी भाषा से आये हुये, या लिये हुये शुब्द प्रयोग से परे, या अव्यावहारिक,नये गढ़े हुये या अप्रयुक्त शब्दों को न लाना चाहिये। यही बात पदों, वाक्यों और रचना के सम्बन्ध में भी होनी चाहिये। इसके लिये दो मुख्य बातों पर ध्यान देना चाहिये:—

१:—पठित समाज में परिचित शब्दों, वाक्यों तथा पदों का ही प्रयोग हो।

२:—प्रख्यात विद्वान लेखकों के द्वारा प्रयुक्त हुये शब्दों एवं वाक्यों का ही प्रयोग उचित है क्योंकि उनका प्रयोग प्रमाणित हो चुका है।

(ध्यान रहे कि हमारे लिये ऐसे प्रयोगों की उपेक्षा करना उचित बात है जिनका प्रयोग केवल एक, दो ही आर्ष लेखकों ने निरंकुशता के बल पर ही किया है ऐसे निरंकुश प्रयोग "आर्ष-प्रयोग" कहे जाते हैं और उनका प्रयोग "निरंकुशाः कवयः" इसी प्रमाण से ही क्षम्य हो जाता है)

उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करना "जड़ता" कहलाता है, और इन नियमों के अनुसार न चलने वाली शैली अमनोनीत होती है, उसमें जड़ता मानी जाती है और उसका लेखक जड़ कहलाता है—प्रो० निकल के अनुसार जड़ता के कारण ये हैं :—

(१) व्यवहार-वहिष्कृत शब्दों का प्रयोग।
(२) प्रान्तिक और शिथिल शब्दों का प्रयोग या ग्राम्य। शब्दों का प्रयोग।
(३) पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य।
(४) विदेशीय शब्दों का प्रयोग।
(५) अनावश्यक और व्यर्थ ही शब्दों का गढना तथा उनका प्रयोग करना।
(६) विशेषार्थ में प्रयुक्त होने वाले रूढ़ि और योग रूढ़ि शब्दों का बिना जाने हुये साधारण एवं व्यापक प्रयोग, तथा संदिग्धार्थक शब्दों का प्रयोग।

(२) सत्प्रयोग या औचित्य :—शब्द हमारे भावों एवं विचारों के चित्र या चिन्ह हो कर हमारे सामने आते हैं, वे

हमारे विचारों के प्रतिनिधि हैं। शब्दों के साथ भावों या अर्थों का योग कर दिया जाता है और वे शब्द उन्हीं विशेष और सर्व सम्मत या सर्व मान्य भावों और विचारों के लिये व्यवहृत होते हैं। यह प्रत्येक लेखक को अच्छी तरह जान लेना चाहिये और शब्दों को उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त करना चाहिये जिन अर्थों के लिये वे शब्द प्रथम ही से सर्व सम्मति के द्वारा उपयुक्त मान लिये गये हैं। इसी को सत्प्रयोग या शब्दों का औचित्य कहते हैं। शब्दों का ऐसा प्रयोग न करने से उनमें शैथिल्य दोष आ जाता है। शब्दों का न्यूनार्थ एवँ अधिकार्थ में प्रयोग करना भी उचित नहीं, इससे स्पष्टता तथा सुबोधता में बाधा आ उपस्थित होती है। भाषा में एकार्थवाची अनेक शब्दों का समुदाय है, परन्तु सब के अर्थों एवँ प्रयोग में अन्तर रहता है—जैसे चन्द्र के पर्याय वाचक शब्द लीजिये, विधु, इन्दु, मयँकादि इनके प्रयोग एवँ भावों में अन्तर है, शरद ऋतु में विमल चन्द्र को विधु और चन्द्र कलाओं को प्रगट करने के लिये कलाधर कहते हैं।

इसके विपरीत हमारी भाषा में शब्दों का एक विचित्र औदार्य भी पाया जाता है। शब्द व्यापक हो कर अनेकार्थोंमें प्रयुक्त हो सकता है, केवल प्रसँग, सामर्थ्य और औचित्यसे उसका मनोनीत अर्थ स्पष्ट होता है—जैसे मधु-शब्द बसन्त, चैत्र, मदिरा, शहद, अमृत, पराग, एवँ राक्षस आदि के अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है, इसी प्रकार और शब्द शारङ्ग, हरि आदि के विषय में भी जानिये। अतएव आवश्यक यह है कि पर्याय वाचक शब्द

और एकार्थ वाची शब्द और उनके प्रयोगादि-भली-प्रकार जान लिये जावे।

यथार्थता :—लेखक के भाव या विचार की यथार्थ एवँ सत्य प्रतिकृति ही को यथार्थता कहते हैं। शब्द या पद ऐसे होने चाहिये जो लेखक के भाव या विचार को सत्यता के साथ स्पष्ट करते हों, न तो वे उनसे अधिक ही अर्थ दें और न कम ही। इसके लिये आवश्यक यह है कि लेखक को शब्द-विचार और वाक्य-विचार (Etemology and syntax) का अच्छा ज्ञान इसमें तीन प्रकार के दोष आ सकते हैं (१) शब्दावली या पदावली लेखक के उन भावों एवँ विचारों को प्रगट न करे जिन्हें वह प्रकाशित करना चाहता है वरन् उनसे समानता एवँ सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विचारों को सूचित या प्रकट करती हो (२) शब्दावली या पद-माला उसके विचारों को सत्यता तथा स्पष्टता से पूरी तरह न प्रकट करती हो वरन् उससे कुछ कम या अधिक भाव प्रकाशती हो। (३) शब्द या पद किसी विशेष अर्थ में प्रयोग-वाहुल्य एवं व्यवहार-प्राचुर्य के कारण रूढ़ि हो जाता है और अभीष्ट अर्थ के विरोधी या तदतिरिक्त अन्य अर्थ को प्रगट करता है।

यथार्थता के लिये आवश्यक बातें :—अनावश्यक और व्यर्थ का शब्दाडम्बर छोड़ दो (२) भिन्न भिन्न शब्दों एवं पदों के द्वारा एक ही विचार का पिष्टपेषण करना त्याग दो और पुनि

रुक्ति दोष को दूर कर दो (किन्तु जिस समय भावों या शब्दों पर ज़ोर देना या उनमें विशेष बल पहुंचाना हो तब वीप्सा के लिये शब्दों या पदों का पुनर्प्रयोग दोष नहीं कहलाता, वरन् एक प्रकार का गुण और चमत्कार पूर्ण अलंकारिक प्रभावोत्पादक मनोरंजक सौष्ठव के रूप में हो जाता है) (३) अनुपयुक्त पर्याय वाची शब्दों का, जो वस्तुतः पर्याय वाची नहीं हैं किन्तु उस रूप में केवल दिखाई ही पड़ते हैं और यथार्थतः अपना पृथक और दूसरा अर्थ रखते हैं, प्रयोग न करो। प्रथम शब्दों के सत्यार्थ एवं सुप्रयोग को निश्चित रूप से जान लो तब उनका प्रयोग करो।

शिथिल शैली:—सत्य, स्वाभाविक और स्पष्ट शैली के विपरीति जो शैली होती है अर्थात् जिसमें ये गुण नहीं होते, वह शिथिल शैली कहलाती है। उक्त नियमों की अवहेलना तथा उल्लंघन करने या उच्छृङ्खलता के साथ उनका यथार्थ पालन न करने से ही शैली में शैथिल्य-दोष आ जाता है। प्रायः प्रारम्भिक श्रेणी के लेखक पर्याय वाची और श्लिष्ट या अनेकार्थ सूचक शब्दों का पूर्ण ज्ञान न हो सकने के कारण इन दोषों को अपनी शैली में खींच लाते हैं। ध्यान रहे कि चाहे किसी भी भाषा में हों दो शब्द सदा सर्वथैव एक ही अर्थ नहीं व्यक्त करते, यथार्थ में पर्याय शब्द तो कोरी कल्पना ही है। केवल एक प्रधान अर्थ रखने से वे एकार्थ सूचक माने जाते हैं, किन्तु वास्तव में उन में कार्य-साम्य नहीं रहता, उन में थोड़ा न थोड़ा अर्थान्तर अवश्य रहता

है। जिस प्रकार श्यामता की कई श्रेणियां होती हैं, परन्तु सभी श्रेणियां श्यामता की व्यापकता के विचार से श्याम ही कही जाती हैं उसी प्रकार एक प्रधान अर्थ की अनेक कक्षायें रखते हुए भी शब्द प्रधानार्थ की व्यापकता के बिचार से एकार्थ-सूचक या पर्याय वाची कहे जाते हैं, किन्तु वस्तुतः उन में अर्थान्तर रहता अवश्य है। इस पर पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

पद या वाक्य-चयनः—शब्द-चयन के विषय में हम प्रथम ही पर्याप्त रूप से कह चुके हैं और पदों या वाक्यों के चुनने के विषय में भी कुछ प्रकाश फेंक चुके हैं, तो भी यहाँ कुछ आवश्यकोपयोगी नियम सूक्ष्म सारांश के रूप में दे देते हैं। पद या वाक्य-चयन में लेखक को अपनी रुचि, भाव-सत्यता, स्पष्टता और ज्ञान (निर्णयात्मक विवेक) से ही पूर्णतः सहायता लेनी चाहिये। निम्न नियम केवल पथ-प्रदर्शनार्थ ही उपयुक्त होगें।

१—दो एक ही प्रकार के या एक ही भाव को सूचित करने वाले पदों या वाक्यों में से वहीं एक लो जो अधिक सत्यता (पूर्णयथार्थता) स्पष्टता एवं सरलता से आन्तरिक विचार को प्रकट करता हो।

२—जो पद या वाक्य सब से अधिक सीधा और सुबोध हो उसी का प्रयोग करो।

३—कानों को जो सुनने में सब से अधिक मधुर,

स्निग्ध तथा मनोरम प्रतीत हो उसी वाक्य या पद का व्यवहार करो।

४—जिसमें सरल स्वाभाविकता तथा सुन्दर प्रवाह या गति हो वही पद या वाक्य उत्तम होगा।

वाक्य-रचना :—शैली का यह दूसरा प्रधान एवं अनिवार्य गुण है, इसी पर रचना या लेखन-कला की पूर्ति-स्फूर्ति निर्भर है, इसी से प्रभाव, सौष्ठव एवं मनोरंजक चमत्कार-चातुर्य का उदय होता है। वाक्य-संक्रमण में मुख्यतः निम्न बातें होनी चाहियेः—

(१) स्पष्टता (clearness)
(२) एकता (Unity)
(३) ओज या बल (Force)
(४) सरल सुन्दर लयपूर्ण धारावाहिकता (Flow)
(५) व्यंजकता (Suggestiveness)
(६) लालित्य (Elegance)

१—स्पष्टताः—यह बहुत आवश्यक गुण है, और कदापि विस्मरणीय नहीं, इसे किसी भी प्रकार किसी भी दशा में किसी भी कारण से न जाने देना चाहिये। इसके बिना भ्रमात्मकता, संदिग्धता, अनिश्चितार्थता एवं अव्यक्तता के दोष आ जाते हैं, जिनसे भयंकर तथा अमनोनीत परिणामों के उत्पन्न होने की शंका रहती है। इस गुण के साथ ही साथ

सत्यता का गुण भी मिला हुआ है । इसका मूल मंतव्य यही नहीं है कि अर्थ में सरलता, स्पष्टता एवं सुबोधता आ जावे, वरन् यह भी है कि वाक्य का अर्थ अनर्थ के रूप में (अमनोनीत एवं अनभीष्ट अर्थ के रूप में) न हो जावे । इस गुण के लाने के लिये आवश्यक है कि:—

क—विशेषार्थ सूचक शब्दों (विशेषण, क्रिया-विशेषणादि) एवं पदों का सुव्यवस्थित, या नियमित, क्रम से यथास्थान में उपयुक्त प्रयोग किया जावे । इनके अनुचित प्रयोग से अर्थ में अन्तर पड़ जाता है:—

जैसे:—(१) केवल राम ने पुस्तक पढ़ी है । अर्थात् और किसी ने नहीं पढ़ी, राम ही ने पढ़ी है ।

(२) राम ने केवल पुस्तक पढ़ी है । अर्थात् राम ने पुस्तक तो पढ़ी है, पर याद नहीं की, वह बस पढ़ ही गया है ।

यहां केवल के भिन्न प्रकार के प्रयोग से अर्थों में अन्तर हो गया है ।

इस से स्पष्ट है कि 'शब्दों के स्थान-भेद एवं व्यवस्था-क्रम-भेद से अर्थों में अन्तर आ जाता है । इसीलिये व्याकरण के नियमों की आवश्यकता है तथा उनके अनुसार शब्द-योजना एवं वाक्य-रचना की अनिवार्य आवश्यकता है । इसीलिये कहा जाता है कि शब्दों का उपयुक्त प्रयोग होना चाहिये—"एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति"—

श्रुतिः—" सुप्रयुक्त शब्द लोक एवं परलोक में कामधेनु के समान अर्थ-प्रद होता है।

ख—सर्वनाम, और कारकादि का भी प्रयोग ख़ूब विचार करके करना चाहिये। ऐसा न हो कि इनके अनुचित एवं व्यतिक्रम प्रयोग से भाव बदल जाये। जैसे :—राम ने मेरी पुस्तक संदूक से निकाल ली जो बड़ी पुरानी थी, यहाँ यह संदिग्ध है कि जो, पुस्तक और संदूक में से किसे सूचित करता है।

सारांश यह कि शब्द-संगठन एवं वाक्य-रचना, व्याकरण एवं लौकिक प्रयोग के अनुकूल हो कर स्पष्ट और सुबोध हो।

(ध्यान रहे कि अभिधा, लक्षणा, तथा व्यंजना के कारण भी अर्थों में अन्तर पड़ जाता है अतः इन से सावधान रहना चाहिये, यहाँ विस्तार-भय से हम इसकी विवेचना नहीं देना चाहते, पाठक ! इस प्रसंग का ज्ञान "काव्यनिर्णय" जैसे दूसरे ग्रंथों एवं हमारी "गद्य काव्यालोक" नामी पुस्तक से प्राप्त कर सकते हैं)

२—एकता:—वाक्य में एक मुख्य भाव का प्राधान्य रखना तथा तदन्तर्गत अन्य वाक्यांशों को उसका सहायक, परिपोषक और अनुगामी रखना ही एकता है। इसे लाने के लिये लेखक को चाहिये कि वह (१) उन वाक्यांशों या पदों को, जो कुछ पृथकता या भाव-विभिन्नता रखते हैं, तथा जिनका सम्बन्ध मुख्य वाक्य से सीधा और दृढ़ नहीं है, जो वाक्य के मुख्यार्थ के सहा-

यक, समर्थक, पोषक, अनुगामी, एवं परिचायक नहीं हैं, एक ही वाक्य में न रखता जाये, किन्तु उन से दूसरा वाक्य बनावे।

(२) स्फुट वाक्यांश, या पद जहां तक हो सके कम ही हों।

(३) वाक्यों की सीमा व्यर्थ में बहुत न बढ़ाई जावे।

(४) एक उद्देश्य और एक विधेय ही प्रधान रूप से वाक्य में विकासित हों।

(५) क्रियाओं के रूपों में (कर्तृप्रधान, कर्मप्रधान एवं भाव-प्रधान में से कोई भी हो) समानता रहे और शीघ्रता से परिवर्तन न हों।

वाक्यमाला एक सी गुम्फित और सुव्यवस्थित हो कर एक हो जावे, उस के बीच बीच में विलगता सूचक ऐसे विभाग या खंड न हों, जो पृथक जान पड़ें।

ओज या प्रभावोत्पादक बल:—यह लेखक के आत्मिक-बल, चारित्रिक प्रतिभा, और मानसिक पवित्रता के पराक्रम का परिणाम है। शब्दों एवं वाक्यों में तभी बल या ओज आता या आ सकता है जब हृदय में शुभ्रता का बल-विकास होता है। जब लेखक विषय में तन्मय या तल्लीन हो जाता है, अपने हृदय में सहानुभूति एवं उत्साह रखता है तथा विषय में पूर्ण रुचि, ज्ञानानुभव तथा लिखने में निरंतर अभ्यास रखता है तभी उस के लेख में यह गुण आता है। इस के प्रभाव से लेख में सजीवता आ जाती और वह प्रभाव-पूर्ण हो जाता है। इस के द्वारा पाठकों का आकर्षण, उनकी कल्पना,

रागात्मिक वृत्तियों एवं उनकी लालसा आदि का उत्तेजन किया जाता है। उनमें आवेश का संचार किया जाता है तथा उनको अपने पक्ष में आने की प्रेरणा की जाती है। इसे प्राप्त करने के लिये हमें उचित है कि हम :—

(१) हृदय में चुभने वाले चमत्कार-पूर्ण मनोरंजक शब्दों या वाक्यों का प्रयोग करें।

(२) कल्पना एवं विचारों को उत्तेजित करने वाले व्यंजना-शक्ति से पूर्ण शब्द एवं पद उठावें।

(३) रचना में चातुर्य और ज़ोर डाल दें। वीप्सालंकरादि का प्रयोग कर शब्दों या वाक्यों की पुनरुक्ति या आवृत्ति कर दें। अलंकार इसमें बहुत सहायक सिद्धहोते हैं।

(४) प्रभाव-पूर्ण शब्दों—जैसे (१) परिचित और साधारण शब्दों तथा (२) समूर्त एवं व्यक्ति बोधक विशेष शब्दों का प्रयोग करें।

(५) थोड़े किन्तु अधिक भाव सूचक (व्यंजक) शब्द रक्खें तथा अनावश्यक शब्दों को हटा दें, व्यर्थ का शब्दाडम्बर और शब्द-कौतुक न रहने दें। शब्द-बाहुल्य दूर कर दें। तथा रूपकोत्प्रेक्षादि अलंकारों से साहाय्य लें।

(६) आवश्यक शब्द एवं पद प्रथम रक्खें। तथा वाक्यों के अवसान को आकस्मिक न कर दें, शब्द-संगठन को कला-कौशल-पूर्ण विचित्रता देते हुये रक्खें।

(७) ज़ोरदार पद व्यवहृत करें—शब्द-क्रम प्रतिभापूर्ण हो। यथाः—जाओ तुम अवश्य (तुम अवश्य जाओ से अधिक प्रभावपूर्ण है) "गया तो था" (गया था से अधिक बल वाला है)

(८) प्रश्नवाची, विस्मयादि बोधक, और विलोमप्रतिलोम पदावली या शब्दावली रक्खें—(१) कौन नहीं जानता कि हम आर्य हैं। (२) मानव-शरीर विरंचि के कला-कौशल का क्या ही अच्छा उदाहरण है। हाय! हाय! तुम भी मुझे नीच समझते हो, (३) शूरवीर वही है जो विजयी हो अपने अदम्य क्रोध पर।

४—धारावाहिकताः—यह भी शैली के लिये एक आवश्यक गुण है। वाक्य ऐसे सुगठित तथा शब्दावली ऐसी सुव्यवस्थित एवं एक सी गुथी हुई हो कि पढ़ने वाला एक सी गति के साथ बिना कहीं अटके भटके ही आसानी के साथ आप ही आप फिसलता सा चला जाये। वाक्यों एवं विचारों की एक समान गति-पूर्ण धार सी चली जाती हो। यह सर्वथा सुन्दर शब्दयोजना, अनुप्रासावृत्ति, और वाक्य-विन्यास की चतुर रचना पर ही निर्भर रहती है। वाक्यावली में एक प्रकार की लय और शीघ्रगामी गति होनी चाहिये। उसमें एक प्रकार की तरल लहरी की सी प्रगति हो तो अच्छा है।

(५) **व्यंजकता :**—इससे मानसिक कल्पना में एक प्रकार की मनोविनोदनी उत्तेजना आजाती है तथा बुद्धि में एक प्रकार की प्रसन्न करने वाली गुदगुदी सी उठती है। इसका सम्बन्ध सभी प्रकार व्यंजना शक्ति से है। साधारण शब्दों को नये ढंग में व्यवहृत करने से इसका संचार होता है, जैसे—कृष्ण को देख कर राधिका का सुमन खिल गया, (या राधिका प्रसन्न हो गई, यहां खिल गया का प्रयोग एक नये ढंग से प्रसन्नता के अर्थ में किया गया है, वैसे मन या हृदय फूल नहीं है जो खिल जाय) इसके लिये विशेषभाव-बोधक शब्दों का प्रयोग विशेषार्थ में नये रंग-ढंग के साथ होना चाहिये और अमूर्त शब्दों का प्राचुर्य बचाना चाहिये, हो सके तो उनको दूर ही रखना चाहिये। यह भी अच्छा होता है कि लेखक कुछ थोड़ा सा मुख्य भाव स्पष्ट या व्यक्त करके शेष भाव पाठकों की कल्पना एवं स्मृति के लिये सूच्य करके छोड़ दे। इस से भी शैली में रोचकता तथा व्यंजकता आजाती है। किन्तु यह सूच्यार्थ बड़ी ही चतुरता के साथ इशारों के द्वारा सूचित किया जाना चाहिये। इसी के साथ हम लक्षणा से भी सहायता ले सकते हैं और भावों को लक्षित कर सकते हैं, (जैसे गंगी जी के ऊपर मेरी एक पर्ण कुटी है, वहां भला कैसे मैं आप को बुला सकता हूँ, किन्तु आप के शुभागमन एवं आपकी पद-रज से वह छोटी सी टूटी फूटी कुटीर पवित्र अवश्य हो जावेगी)। ध्यान रहे कि इस प्रकार की संकेतात्मक सूचना से स्पष्टता एवं प्रसाद गुण की सुन्दरता में बाधा न

पड़ने पावे, नहीं तो शैली अमनोनीत हो जावेगी। यह बुद्धि को अपने चमत्कार से खिलाने वाली कौतुक-पूर्ण कौतूहल की शक्ति है।

(६) लालित्य :—यह मन की रुचि को प्रसन्न करने तथा संतोष-शान्ति देने वाली कला की कुशलता है। इससे सौन्दर्य को चाहने एवं सराहने वाली मनोवृत्ति की जागृति होती है, तथा रोचकता और रुचिता में स्फूर्ति आती है। ध्यान रहे कि रुचि अश्लीलता-रहित और सभ्यता, सौम्यता एवँ शुचिता सहित हो, उसमें शिष्टता की मात्रा अधिक हो। इसका उद्गम अच्छी रुचि से होता है, जब तक लेखक की रुचि अच्छी न होगी तब तक वह सुन्दर शब्द-योजना, पद-सँघटना एवँ मनोरँजक वाक्य-विन्यास नहीं रख सकता। इसके लिये वाक्यों में (१) ताल (Rhythm) (२) तुल्यता (Balance) और ध्वनि (Tone) में अच्छा सामंजस्य और अभ्यस्त अनुभव होना आवश्यक है। परिष्कृत और परिमार्जित शिष्ट भाषा, सुन्दर लिखना, चिन्हों (विराम, अर्ध विरामादि) का उपयुक्त प्रयोग आदि बाहिरी सजावट की बातें भी इसमें बड़ी सहायता पहुंचाती हैं। जिसप्रकार सुबोधता और स्वाभाविक सत्यता के साथ, स्पष्टता अपनी मौलिक सरलता से प्रभाव डालती है तथा जिस प्रकार ओज, भाषा एवं शैली में प्रभाव-प्रतिभापूर्ण बल पहुंचाता है, उसी प्रकार चतुर चमत्कार के साथ लालित्य भी रोचकता को बढ़ाकरप्रसन्नता प्रदान करता है।

१—इसके लाने के लिये यह आवश्यक है कि क्लिष्टोच्चार-पूर्ण महाप्राणाक्षरों से बने, कठोर एवं भारी ध्वनि वाले संयुक्तवर्णों या परुषाक्षरों से बने शब्दों का प्रयोग न किया जावे, वरन् मंजुल, मधुर और कोमल शब्द जो सुनने, बोलने और लिखने आदि में सरल, सीधे, सुन्दर तथा सुखद हों व्यवहृत किये जावें। संगीत की ताल एवं लय के साथ साम्य रखते हुये, वाक्य सुव्यवस्थित होकर लहरते हुये कर्ण, रुचि और कल्पना को सुख देते हुये एक सुन्दर संगुम्फित सिलसिले एवं क्रम से संघटित हो कर चलें।

२—स्वर युक्त, कोमल, मधुर तथा अनुस्वार युक्त सरल वर्ण मंजुलता के साथ लाये जावें।

३—लम्बी २ समासें जो कठिन और क्लिष्ट ग्रंथियों के समान होती हैं, न आने पावें।

४—विराम या यति की गति अच्छी हो, उनकी मात्रा विशेष न हो।

ध्यान रहे कि इन गुणों के अतिरिक्त शैली एवं भाषा में सदैव स्वाभाविकता, मौलिकता, सरलता, सुबोधता, स्पष्टता, और चातुरी-माधुरी विशेष रूप से विराजती रहे, तभी उनमें रोचक एवं रुचिर मनोरंजकता आ सकेगी।

उपसंहार:—विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये ही हमने यह संक्षिप्त विवेचना ऊपर दे दी है। प्रारम्भिक एवं अभ्यास की अवस्था में, कुछ विद्वानों का मत है, विद्यार्थी शैली की

ओर विशेष न झुकें, और उसी के पीछे न पड़े रहें। उनका एक मात्र मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य यही होना चाहिये कि वे अपने भावों एवं विचारों को भाषा में अच्छी तरह ज्यों का त्यों, स्पष्टता, स्वाभाविकता एवं सत्यता के साथ प्रकट कर लें। शैली आप से आप बन जायेगी, क्योंकि लेखक ही शैली बनाता है, शैली स्वतः लेखक को नहीं बनाती। उन्हें काव्यमयता, सौंदर्य-सौष्ठव, चमत्कार, और सुसज्जित अलंकारिता की ओर ही न झुके रहना चाहिये। उन्हें यथाक्रमता, नियमानुकूलता, सुव्यवस्था एवं स्पष्टता की ही ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये यदि इनके साथ कुछ रचना-सौंदर्य, एवं प्रभावप्रतिभा, सौष्ठव और शिष्टता से मनोरंजक चमत्कार-पूर्ण कला-कौशल दिखाया जा सकता है तो अच्छा है, यदि नहीं, तो उसे प्रथम उन्हीं उक्त बातों पर ही ज़ोर देना और उन्हीं का ध्यान रखना उचित है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि शैली की कठिनता, गूढ़ता एवं सरलता, शब्दों और भाषा पर निर्भर नहीं, तत्सम (शुद्ध संस्कृत) और तद्भव (संस्कृत शब्दों से कुछ परिवर्तित हुये शब्द) शब्द ही कठिनता एवं सरलता उत्पन्न करने वाले नहीं होते। भाषा एवं शैली में कठिनता एवं सरलता आती है विचारों की गूढ़ता, गंभीरता, विषय-प्रतिपादन की जटिलता, मुहावरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना, वाक्यों की उलझी हुई दुर्व्यवस्था तथा इनके विपरीत या विरोधी गुणों की उपस्थिति से।

शैली में दो प्रकार के गुण माने गये हैं (पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा) (१) प्रज्ञात्मक तथा (२) रागात्मक। प्रथम में (१) प्रसाद और (२) स्पष्टता तथा दूसरे में (१) शक्ति, (२) करुण (३) और हास्य रक्खे गये हैं। साथ ही लालित्य में, (१) माधुर्य (२) सस्वरता और (३) कलात्मक रोचक चमत्कार भी गुणों के रूप में रक्खे गये हैं। परन्तु हम कह सकते हैं कि यह अनुक्रमणिका तथा विश्लेषण उपयुक्त एवं वैज्ञानिक नहीं, इसके विपरीत हमारे यहां के आचार्यों ने वाक्यों तथा भाषा-रीति में तीन गुण माने हैं—(१) प्रसाद (२) माधुर्य (३) ओज। ये अधिक व्यापक और समीचीन हैं। उन्होंने इन गुणों के साथ आलंकारों (शब्दार्थ-लङ्कारों) को लेकर तथा इन्हें रस और भाव का परिपोषक या उत्कर्षकारक बनाकर अपने विभाग-क्रम को सुव्यवस्थित, उपयुक्त और वैज्ञानिक बना दिया है। साथ ही उन्होंने, व्यंजना, लक्षणा और अविधा शक्तियों के द्वारा इसमें और विशेष प्रभाव-प्रतिभा एवं उत्कर्ष भर दिया है।

शैली-भेदः—हम प्रथम ही कह चुके हैं कि शैली मानसिक भावों एवं विचारों के प्रकाशन की एक चमत्कार-पूर्ण मनोरंजक रीति है। यह भी स्पष्ट बात है कि प्रकाशन के ढंग तथा विचारों की तरंगे रुचि पर ही निर्भर हैं, और "भिन्न रुचिर्हि लोकः" के अनुसार यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि मानव-संसार में रुचि-वैचित्र्य का प्राधान्य एवं प्राचुर्य है, इसी रुचि-वैचित्र्य

एवं वैलक्षण्य के कारण विचारों में वैभिन्य या पार्थक्य तथा उनके प्रकाशन के ढंगों में भी वैचित्र्य एवं वैलक्षण्य आ जाता है। अतएव कह सकते हैं कि प्रत्येक लेखक या प्रत्येक व्यक्ति की शैली अपनी अपनी पृथक होती है। हर एक मनुष्य का विचार-प्रकाशन-ढंग विलक्षण एवं विचित्र होता हुआ दूसरे से पूर्णतया पृथक ही सा रहता है। इस विचार से कोई निश्चित संख्या एवं विभाग शैलियों का नहीं हो सकता। किन्तु यह बात भी प्रत्यक्षानुभावित है कि मनुष्य अपनी अनुकरण करने वाली मनोवृत्ति के कारण सदा ही दूसरों का प्रत्येक प्रकार से अनुकरण करता रहता है, कह सकते हैं कि समस्त ज्ञानानुभाव का आकार-प्रकार इसी अनुकरण का फल होता है—यह उस समय बहुत व्यापकता, विस्तृतता, प्राचुर्य एवं बाहुल्य के साथ दृष्टिगोचर होता है जब हम साहित्यिक क्षेत्र में आते हैं। साहित्य-निर्माता, मर्मज्ञ विद्वान अपने विचारों को विचित्र ढंग से प्रकाशित किया करते हैं और तदर्थ अपनी विशेष रूप, रंग एवं ढंग वाली विचित्र भाषा भी कल्पित कर लेते हैं, उनका ही अनुकरण साधारण लोग करने लगते हैं, और इस प्रकार एक विशेष विद्वान की शैली व्यापक एवं विस्तृत रूप से फैल कर सर्व मान्य हो जाती है। वही प्रख्यात, प्रचलित एवं प्रतिष्ठित बन जाती है। इस प्रकार प्रतिष्ठित, प्रख्यात और मान्य लेखकों की भिन्न भिन्न शैलियां साहित्यिक रूप धारण कर क्षेत्र में प्रचलित हो जाती हैं और शैलियों में विभेद उत्पन्न

कर देती हैं। इस विचार के अनुसार हम मुख्य मुख्य मान्य साहित्यिक शैलियों का उल्लेख नीचे दे रहे हैं। साथ ही हम यह भी आवश्यक जानकर कह देना चाहते हैं कि विषय के अनुसार भी शैलियों में भेद हो जाता है। गंभीर, गूढ़, जटिल तथा क्लिष्ट विषयों की शैली (रचना-शैली) जटिल, गंभीर तथा क्लिष्ट, सरल, साधारण और स्पष्ट विषयों के लिये सीधी, साधारण और सरल शैली होती है। हमारी हिन्दी भाषा का गद्य अद्यापि बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ नहीं हैं, तथा उसमें अभी शैलियों के अच्छे रूप निश्चित नहीं हो सके, उसमें शैलियां हैं अवश्य, किन्तु वे अपनी प्रौढ़ावस्था में नहीं हैं। इस विषय का विवेचन भी अभी पूर्ण रूप से नहीं किया गया—जो कुछ इस ओर कार्य हुआ है वह प्रायः पाश्चात्य प्रतिभा के प्रभाव ही के कारण हुआ है। आङ्गलभाषा के गद्य तथा उसकी शैलियों का बहुत बड़ा प्रभाव हमारी भाषा और शैलियों पर पड़ा एवं पड़ रहा है। उन का अनुकरण भी बड़े वेग से हो रहा है। इस विषय की सोदाहरण विस्तृत विवेचना करने का हमें न तो यहां अवकाश ही है और न उपयुक्त स्थान ही है—पाठक एतदर्थ हमारी "गद्य-काव्यालोक" नामक पुस्तक देख सकते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के मत से भाषा-गद्य में प्रायः चार ही मुख्य शैलियाँ होती हैं। (१) सरल और बामुहावरा शैलीः—यह लेखन-कला एवं रचना-चातुरी की वह रीति है जिसमें शब्दों

तथा पदों का प्रयोग शुद्धता एवं औचित्य के नियमानुसार होता है और वाक्य-रचना के विन्यास में स्पष्टता तथा एकता का सामंजस्य रहता है। इसमें रचना शुद्ध होती है और अर्थ इतना स्पष्ट रहता है कि समझने के लिये कठिन श्रम नहीं करना पड़ता।—(मि० हेले) कह सकते हैं कि यह शैली प्रसाद-गुण-पूर्ण होती है, और इसमें अविधा शक्ति का प्राधान्य रहता है।

(२) **स्वाभाविक या स्पष्ट शैली**:—इस शैली में स्पष्ट और विषयोपयुक्त शब्दों का प्रयोग होता है, इसमें वाक्य छोटे या साधारण सीमा वाले होते हैं, उनमें स्वाभाविक यथाक्रमता, तथा वास्तविकता या मौलिकता का प्रतिबिम्ब रहता है। विषय को सुबोध तथा स्पष्ट करने के लिये इसमें अलंकारों का भी समावेश किया जाता है। सादृश्य-मूलक तथा भावार्थ सूचक अलंकारों का प्रयोग इसमें अधिक मिलता है।—(मि० हेले)

कह सकते हैं कि यह एक साधारण चमत्कार-पूर्ण अलंकृत शैली है और व्यंजना शक्ति से सम्बन्ध रखती है, अतः माधुर्य गुण को भी लेती हुई चलती है। इसमें शब्द-कौतुक भी मनोरंजकता के साथ कभी कभी मिलता है।

(३) **ललित शैली**:—यह शैली एक लालित्य-प्रधान रीति है और ऐसे महत्व-पूर्ण विषयों में व्यवहृत होती है जिनमें सुसज्जित प्रतिभा-पूर्ण प्रकाशन की आवश्यकता होती है। इसमें

प्रभावोत्पादक शब्दों का समावेश होता है। इसके लिये उपयुक्त विषय ऐसे होते हैं जैसे इतिहास, जीवन-चरित्र, चरित्र-चित्रण, भाषण, नीति (राजनीति) सदाचार एवं समालोचनात्मक विषय। इस शैली में प्रतिभा के साथ ही साथ तार्किकता की भी छाया रहती है। सभी प्रभावोत्पादक बातों का ध्यान इसमें रक्खा जाता है। शब्द-सौंदर्य, प्रभावपूर्ण पदावली, सत्यतापूर्ण वाक्य-रचना, और चमत्कार-पूर्ण सजी हुई अलंकृत भाषा इसके तत्व हैं। अतएव यह शैली एक प्रौढ़, अलंकृत तथा प्रभावपूर्ण रचना-रीति है। लालित्य गुण को प्रधानता दे यह रुचि को रोचकता एवं रुचिरता से आकृष्ट करने की शक्ति रखती है। लक्षणा का भी इसमें उपयोग होता है।

(४) **उत्कृष्ट शैली:**—उच्च भावों, विचारों एवं कल्पनाओं के लिये यह शैली प्रयुक्त होती है। भावनाओं में उत्तेजना लाना इसका काम है। सूक्ष्मता, सरलता तथा ओजादि गुणों का इसमें सुन्दर समावेश होता है। इसमें शब्द एवं पद ख़ूब चुने हुये भावपूर्ण तथा उपयुक्त रक्खे जाते हैं। विवेकपूर्ण वर्णनात्मक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली प्रधान प्रधान बातों, स्थितियों, अवस्थाओं एवं घटनाओं का सुन्दर सूक्ष्म संचयन इसमें रहता है। एतदर्थ उचित है वर्णन सूक्ष्म किन्तु भावपूर्ण हो, वाक्य सुव्यवस्थित, सुगुम्फित और संगठित हों तथा विस्मयकारी विचित्र उपमोत्प्रेक्षादि अलंकारों का सुन्दर सजीव प्रयोग हो। अनावश्यक,

साधारण तथा जटिलता-पूर्ण वाक्य इसमें न हों । ओज गुण और चारु चातुर्य ही इसके मूल तत्व है। भाव-गम्यता के साथ ही इसमें बुद्धि तथा मस्तिष्क में उत्तेजना एवं जागृति लाने वाली शक्ति भी रहती है।

इनके अतिरिक्त भी और कई प्रकार की शैलियां साहित्य-संसार में प्रचलित हैं, विशेषतः हिन्दी भाषा के संसार में:—

अ—परिमार्जित एवं परिष्कृत प्रौढ़ शैली:—यह शुद्ध तथा क्लिष्ट संस्कृत-शब्दों तथा लम्बी २ समासों की जटिल ग्रंथियों से भरी रहती है। इसमें पारिभाषिक तथा अमूर्त संज्ञा-शब्दों का भी प्राचुर्य रहता है। यह सरल एवं सुबोध न होकर पांडित्य-पूर्ण और कोष की मुखापेक्षिणी होती है।

ब—सानुप्रासिक शैली:—यह आद्यान्त्यानुप्रासादि-पूर्ण रीति है। इसमें वाक्यावली, शब्दावली तथा पद-माला प्रायः तुकान्त के साथ चलती है और अनुप्रासों का इसमें विशेष प्राधान्य रहता है। उर्दू में इसे मुक़फ़्फ़ा इबारत कहते हैं। इसमें एक विशेष प्रकार की पद्यवद्धतामयी लय या ताल सी होती है।

स—गद्य-काव्य-शैली:—यह काव्यात्मक गद्य-रचना की एक चमत्कृत,रुचिर,रोचक रीति हैं। इसमें पद्यवत्ता न रहने पर भी काव्यानन्द रहता है। अलंकारों का सुन्दर उपयोग, काव्योचित भावों की रुचिर रोचक रचना, रसों की सरसता तथा चातुर्य-माधुर्य का मनोहर सामंजस्य इसमें रहता है। कवि-

कल्पनाओं की ललित लीला-लहरी गहरी छवि-छटा के साथ इसमें छहरी रहती है।

द—साधारण या भाषासम शैलीः—यह शैली सर्व साधारण के समझने योग्य साधारण भाषा में रक्खी जाती है। हम इसके मुख्यतः दो रूप कर सकते हैं (१) नागरिक शैली—इसमें उर्दू भाषा की पदावली तथा

उर्दू के मुहावरे उस की लोच-चलक के साथ स्वतंत्रता से भाषा में रक्खे जाते हैं। कहीं कहीं अंग्रेजी भाषा की भी झलक रहती है।

ठेठ या ग्रामीण शैलीः—इसमें भाषा का ठेठ रूप तथा ग्रामीण शब्दों एवं पदों के कुछ परिवर्तित रूप, हास्य तथा सर्वसाधारण के योग्य विविध विषय एवं रस रक्खे जाते हैं। यह अवश्य है कि इसमें अन्य भाषा के शब्द नहीं आने पाते, हाँ वे शब्द अवश्य कहीं २ आ जाते हैं जो दूसरी भाषाओं से आकर तद्भवरूप के साथ हमारी भाषा में पूर्णतया मिल कर सर्वसाधारण हो गये हैं।

यह विषय बहुत विस्तृत और जटिल है, अतः हमने संक्षेप में मुख्य मुख्य एवं अत्यावश्यक बातें, जो विद्यार्थियों के लिये उपा-देय और उपयुक्त हैं, दे दी हैं। हम अब इसे और आगे नहीं बढ़ाना चाहते। हाँ कुछ थोड़ी सी अन्य आवश्यक बातें इसी प्रसंग में कह कर इसकी इति श्री करते हैं।

चिन्ह-प्रयोग:—यह स्पष्ट बात है कि हम वार्तालाप के समय अपने वाक्यों, पदों एवं शब्दों में ध्वनि या उच्चारण से स्वरों में उतार चढ़ाव कर बहुत कुछ अभिप्रेत बल, ओज, प्रभाव तथा मनोरंजक आकर्षण भर देते हैं, और अपनी आंगिक गतियों या क्रियाओं से भी स्पष्टता, भावव्यक्तता तथा बल-प्रभावादि के लिये सहायता लेते हैं। यह दोनों बातें वास्तव में हमारी भाषा को ओजस्विनी, प्रभाव-प्रतिभाशालिनी तथा मनोरमाकर्षक बनाने में बहुत बड़ी सहायता करती हैं। किन्तु इनकी सहायता हम लेख में नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वहाँ ये सब असाध्य एवं अव्यावहारिक (अव्यवहार्य) सी रहती हैं, इनका वहाँ प्रयोग ही नहीं हो सकता। ऐसी दशा में हमें कुछ अन्य साधनों का मुखापेक्षी होना पड़ता है, हम किसी दूसरी रीति एवं नीति से अपना यह अभीष्ट मंतव्य साधते हैं। लेख में जब हम प्रभाव और ओज, ध्वनि तथा गति में उतार चढ़ाव, बलाबलादि से रखना चाहते हैं, तब प्रायः निम्न साधनों का उपयोग करते हैं:—

१. बल या ज़ोर देने वाले शब्दों—जैसे, तो, भी, ही, अवश्य,

२. ओज के सहायक अन्य साधनों—जिनका कुछ वर्णन हम ऊपर दे चुके हैं।

जैसे—१. वाक्य विन्यास तथा शब्द संघटन में कुछ कुछ विचित्र क्रम।

२. मर्मस्पर्शी विस्मयादिबोधक अव्यादि का प्रयोग करते हैं।

३. चिन्ह विशेषः—चिन्हों जैसे, विराम, अर्धविराम, आदेशक, आदि से हमें प्रायः वही सहायता मिलती है जो बातचीत में रुकने तथा अन्य प्रकार से बल पहुंचाने में। इनके प्रयोग से स्पष्टता, और यति-गति में व्यवस्थित सुन्दरता आजाती है। शब्दों, पदों तथा वाक्यों का आवश्यक और अनिवार्य पृथक्करण भी हो जाता है, साथ ही विचारों का पारस्परिक सम्बन्ध भी ज्ञात होता है। अर्थ का स्पष्टीकरण इनके द्वारा अच्छा होता है तथा अर्थ में परिवर्तन भी इनके द्वारा सुचारुता से हो जाता है।

जैसेः—मारो मत, जाने दो। मारो, मत जाने दो।

"पाप करै सो तरै तुलसी, कबहूँ न तरै हरि के गुन गाये"

"पाप करै सो तरै "तुलसी" कबहुं न, तरै हरि के गुन गाये"

मैं तुम्हें गाली दूँगा ! मैं ! तुम्हें ! गाली ? दूँगा ? मैं तुम्हें गाली दूंगा। अतः स्पष्ट है कि चिन्हों के द्वारा वक्छल, संदिग्धता, अनिश्चितता एवं अव्यक्तता आदि के दुर्गुण या दोष दूर किये जा सकते हैं। हमारी भाषा के प्रारम्भिक तथा मध्यकाल में चिन्हों का सदुपयोग भुलाया गया था, उस समय इनका प्रयोग करना लोग न तो जानते ही थे, और न करते ही थे। किन्तु साम्प्रतम् चिन्ह-प्रयोग का प्रचार, प्राचुर्य और वाहुल्य से पूर्णतः प्रौढ़, मान्य एवं आव-

श्यकानिवार्य हो गया है। चिन्ह तथा तत्प्रयोग बहुतांश में (प्रायः सर्वांश में) अंग्रेजी भाषा से ही लिये गये हैं। हाँ, यह अवश्य है कि संस्कृत भाषा में चिन्हों के न रहने पर भी कोई हानि एवं वाधा भावार्थ की स्पष्टता में नहीं पड़ती, उसमें कारकादि की परिपाटी तथा व्याकरण के नियमों की ऐसी सुव्यवस्था है कि उनके उपयुक्त उपयोग से बिना चिन्हादि की सहायता के ही सब प्रकार सरलता, स्पष्टता तथा सुन्दरता से कार्य चल जाता है। किन्तु अन्यभाषाओं में यह बात नहीं, अतः उनमें चिन्हों की महती आवश्यकता होती है। संस्कृत में तो नहीं, किन्तु वैदिक संस्कृत में स्वरों के उतार चढ़ाव आदि के लिये कुछ चिन्हों या सकेतों का प्रयोग होता है। जैसे—ओ३म् (यहाँ, तीन ३ का अंक ओ के प्लुत स्वर में होने की,सूचना देता है) "यथा, यो ३ स्मान् द्वेष्टि य वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः, ओं उद्वयं तम् सस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरम्। —, यहां चिन्हों के द्वारा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, स्वरितादि का स्वर-भेद सूचित किया जाता है। हिन्दी में इस प्रकार के चिन्हों का अभाव ही है।

हम पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि वे विरामदि चिन्हों तथा उनके प्रयोगादि के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने के लिये व्याकरण की कोई अच्छी पुस्तक उठाकर ध्यान पूर्वक चिन्ह-प्रयोग का विषय पढ़ें। यहाँ इस विषय के देने की आवश्यकता नहीं, विस्तार-भय से ही हम छोड़ रहे हैं।

पैराग्राफ या लेखांश (अनुच्छेद)—संस्कृत में इसका कोई विशेष विचार नहीं किया गया, तो भी उसमेंविचार-पार्थक्य के विचार से लेख के विभाग अवश्य रहते हैं। हमारे प्राचीन गद्य में भी इसका कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता था, और यदि रक्खा भी जाता था तो बहुत कम, इतना कम कि वह न होने ही के बराबर था। पश्चात्य भाषा (विशेषतः अंग्रेजी) के प्रभाव से जिस प्रकार गद्य-साहित्य में विकास एवं विवेचन हुआ है उसी प्रकार उसके अन्यान्य अंगों की भी विवेचना कुछ सीमा तक की गई है। लेख को पैरों या अंशों (खंडों) में विभक्त करने की शैली भी अंग्रेजी से ही मुख्यतः ली गई है।

लेख के प्रधान तथा मुख्य मुख्य विचारों को पृथक रखना तथा उनका एक व्यवस्थित रूप से एक ही स्थान पर विकास करना ही इसका मूल मर्म है। इसका मूलोद्देश्य यही है कि एक विचार एक सुव्यवस्थित रीति-नीति से एक ही स्थान पर प्रकाशित तथा विकासित किया जावे। उसके सहायक तथा परिपोषक विचारों वाले अन्य वाक्य उसके साथ, निकट तथा उसी स्थान पर रक्खे जावें ताकि स्पष्टता एवं सुबोधता के साथ वह विचार चमकता हुआ अपनी स्वतंत्र सत्ता एवं महत्ता दूर से ही दिखाता रहे। उसका अपना विशेष अस्तित्व बना रहे। साथ ही उसका दूसरे विचारों से भी सम्बन्ध स्थिर रहे।

सब से बड़ा लाभ लेख को ऐसे खंडों में विभक्त करने से यह होता है कि लेख में यथाक्रमता, स्पष्टता और नियमितता आ जाती है। सभी मुख्य मुख्य विचार यौक्तिक क्रम तथा एकता के साथ एक रुचिर-रोचक रूप में सुसज्जित तथा सुसंगठित हो जाते हैं। जिस प्रकार एक माला में पुष्पों का पृथक पृथक स्थान रहता है उसी प्रकार लेख की विचारा-वली में प्रत्येक मुख्य विचार या भाव का अपना एक स्वतंत्र स्थान इन्हीं खंडों के रूप में रहता है, साथ ही सब एक में संगुम्फित हो एक पूर्ण माला भी बनाते हैं। पाठकों को भी इस वर्गीकरण या पृथक्करण से विचारों का क्रम, उनकी संख्या, उनके पूर्ण विकास, व्यक्तित्व, स्थान एवं उनकी महत्ता-सत्ता आदि के सरलता एवं स्पष्टता के साथ जानने में बड़ी सुविधा होती है। वे लेखक का रचना-चातुर्य एवं वर्णन-माधुर्य भली प्रकार जान लेते हैं।

ध्यान रहे कि ऐसे खंडों या अंशों तथा सम्पूर्ण लेख में अङ्गांगी भाव एवं अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है और ऐसा रहना ही चाहिये। ऐसे खंड अपना अस्तित्व पृथक रखते हुये भी समस्त लेख से पूर्ण सम्बन्ध (अटल और अकाट्य रूप से) रखते हैं। सब खंड या अंग मिलकर एक पूर्ण कलेवर बनाते हैं।

सीमा:—एक लेखांश या खंड एक भाव या विचार को, जो मुख्य या प्रधान है, स्पष्टरूप से व्यक्त करता है और समस्त लेख

की विचार-माला का एक सुन्दर सुमन या समस्त लेख रूपी शरीर का एक अङ्ग होता है, यह अपनी सीमा या अपना विस्तार बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ नहीं रखता। ऐसे एक खंड में १०० से लेकर प्रायः ४०० शब्द तक रक्खे जाने चाहिये और "सूक्ष्म तथा तत्व सूचक" (Brief and to the point) इस नियम के ही अनुसार उसमें भावों का कथन होना चाहिये।

इसके आदि या अन्त में लेखक को अपना मुख्य भाव या विचार स्पष्ट रूप से प्रकाशित कर देना चाहिये। यदि विषय तार्किक एवं विवाद-ग्रस्त है तो प्रथम अपने मुख्य सिद्धान्त को देकर उसका प्रतिपादन एवं विकास करते हुये अन्त में उसे फिर परिणाम (Conclusion) के रूप में रख देना उचित है। विषय एवं शैली को विचित्रता तथा लेखक की रुचि के अनुसार ही मुख्य विचार का आदि या अन्त में आना निर्भर है। कुछ आधुनिक लेखकों का मत है कि आदि में एक भाव-पूर्ण वाक्य, जिसमें कुछ विशेष चमत्काराकर्षण एवं प्रभाव हो, रक्खा जावे और फिर उसे स्पष्ट और विस्तृत रूप से विकसित किया जावे, किन्तु यह रीति कथात्मक निबंधों में नहीं प्रवर्तित हो सकती, हां अन्य प्रकार के प्रबंधों में इसका व्यवहार कर सकते हैं। प्रत्येक ऐसे खंड को इस विचार एवं इस प्रकार से लिखना चाहिये मानों केवल एक ही विचार को लक्ष्य कर एक छोटा सा लेख, लिखना है।

लेखांशों या अनुच्छेदों का सम्बन्धः—ध्यान रहे कि ऐसे लेखांशों एवं खंडों में तुल्ययोगिता का सम्बन्ध निरंतर अवाध रूप से रहे। उनमें एकता (Unity) क्रम (order) और ओज (Excellence) सदैव समानता के साथ रहें। वे सब एक दूसरे से संबद्ध, और सम्मिलित रहें, उनमें सहयोगिता, मैत्रीभाव, सहचारिता अथवा सहकारिता निरंतर ही रहे। पीछे आने वाले अंश एवं खण्ड उसी भाव या विचार के साथ प्रारम्भ हों जो प्रथम या पूर्वगामी खण्ड के अन्त में दिया गया है, यदि हो सके और उपयुक्त जँचे, तो पूर्व खण्ड के अन्तिम पद या वाक्य की अग्रिमांश में पुनरावृत्ति कर दी जावे। एतदर्थ संयोजक अव्ययों या पदों का सहारा लिया जा सकता है।

लेखांश में वाक्यों की योजना :—लेखांश, वाक्यों का एक सुव्यवस्थित समुदाय मात्र है, जिसमें एक मुख्य भाव का, जो गृहीत विषय का एक अंग है, यथाक्रम विकास किया जाता है। अतः प्रत्येक खंड के वाक्यों में यौक्तिक क्रम, एकता, अबाध श्रृंखलता (सिलसिला या Continuity) एवं सरल प्रवाह-पूर्ण गति का निरंतर ही रहना आवश्यक है। वाक्य इस प्रकार सजाये तथा ग्रथित किये जावें कि स्वभावतः ही प्रत्येक वाक्य उस बिचार को उठा कर आगे बढ़े जिसे उससे पूर्व वाले वाक्य ने सूच्य रूप से रखकर छोड़ दिया है। इस प्रकार सब कहीं धारावाहिकता का स्वाभाविक रूप रोचक रुचिरता के

साथ दिखाई देता रहे। एतदर्थ संयोजक तथा सम्बन्ध सूचक शब्दों एवं पदों का प्रयोग होना चाहिये, जैसे :—साथही, इसके अतिरिक्त, तथापि, तदनुकूल, तदनुसार, इसप्रकार, यों, चूँकि, किन्तु, परन्तु, ताहम, इसलिये, अतएव (अतः) आदि।

प्रत्येक खंड के प्रारम्भिक वाक्य को शीर्षवाक्य (Topic Sentence) , वाक्य-नेता अथवा संचालक वाक्य कहते हैं, इसमें उस लेखाँश के मुख्य भाव या विषय की स्वतंत्रोदार सूचना होनी चाहिये। शेष वाक्य उसके सहायक, परिपोषक तथा सहचर होकर चलेंगे।

यदि हो सके तो अनुच्छेदों के वाक्यों की सीमा में वैचित्र्य एवं विभिन्नता रहे तथा उनकी रचना में भी वैलक्षण्य दिखाया जावे। जिस प्रकार सभी वाक्य विचारों के स्वाभावविक क्रम का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार सभी लेखांशों को भी, गृहीत विषय के सम्बन्ध में जितने विचार एवं भाव लेखक के मन-मस्तिष्क में आये हैं उनके नैसर्गिक एवं मौलिक क्रम का अनुसरण करना चाहिये।

नोट :—विद्यार्थियों को उचित है कि वे इन मुख्य नियमों को अपने मनमें अच्छी तरह बिठा लें और तब निबन्ध लिखने में निरंतर इनको ध्यान में रख, अभ्यास करें। शिक्षक गण विद्यार्थियों को नियम समझा दें तथा उन्हें अभ्यासार्थ उदाहरण दिखला कर कुछ आवश्यक प्रश्न इसी सम्बन्ध एवं विषय में देकर अभ्यास करायें।

शब्दों के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें

मनुष्यों के समान शब्द भी अपनी मनोनीतिता या रुचि तथा अमनोनीतिता या अरुचि रखते हैं, जहाँ उनकी रुचि होती है वहां वे अच्छी तरह बैठते हैं और जहां अरुचि होती है वहाँ नहीं बैठते। उनमें भी अपने सहयोगियों तथा सहचरों के प्रति साम्य-भाव, सहानुभूति एवँ मैत्री-भाव होता है, वे अपने विरोधी शब्दों के साथ विरोध-भाव, विमन-वैमुखीवृत्ति, पार्थक्य, विलगाव एवं शत्रुता रखते, तथा उनके साथ युद्ध करने लगते हैं और उन्हें हराकर उन पर प्रभावी और अधिपति होना चाहते हैं। शब्दों में भी अपना स्वतंत्र स्वत्व, अस्तित्व-महत्व, पद, अधिकार, तथा अपनी समाज में स्थान होता हैं, उनमें भी मान-मर्यादा, गौरव-गर्व, अर्थ, कोष, प्रभाव तथा बल-प्रतिभा होती है। वे भी सजीव, निर्जीव, बली, हीन, धनी और दीन होते हैं। उनमें भी अपना वंश, जाति, समाज तथा समुदाय होता है। उनमें भी लिंगभेद (स्त्रीलिंग पुलिंग) का क्रम होता है। वे भी उत्पत्ति विनाश देश, काल तथा परिस्थिति के वश होते तथा वे भी स्वतंत्र और परतंत्र रहते हैं। उनका भी युग्म या जोड़ा होता है। वे भी रागी और विरागी, चपल और शांत, सुन्दर तथा कुरूप, सरस और नीरस, जड़ और चैतन्य, सरल और कठिन, सदय एवं कारुणिक

तथा कठोर व क्लिष्ट, आदि होते हैं। वे भी मँजुल, मृदुल तथा कड़े और बुरे होते हैं। वे भी शुभ, पवित्र और अशुभ व अपवित्र होते हैं। साधु और असाधु, भले और बुरे, दुष्ट या नीच, उच्च और शिष्ट, सभ्य व असभ्य उन में भी होते हैं। उनमें भी उदारता, सर्वसाधारणता, कृपणता और अव्यापकता होती है। वे भी गुणी (गुणवाले, दुर्गुणी) छोटे, बड़े, सुकर्म कारी और दुष्कर्मकारी होते हैं। उनमें भी धर्म और स्वभाव होते हैं। साधारण और असाधारण (विशेष) सुलक्षणी और कुलक्षणी का भेद उनमें भी होता है। वे भी जातिच्युत, वहिष्कृत और पतित होते हैं, उनमें भी उन्नत शील, यशस्वी तथा हितकारी व अहितकारी होते हैं। सारांश यह कि शब्द-समाज भी सब प्रकार मानव-समाज के ही समान होता है। उनमें भी परिवर्तन का नर्तन देखा जाता है, उनका भी जीवन होता है। उनमें भी कुछ स्थिरता से प्रेमके निवाहने व साथ रह कर काम देने वाले तथा कुछ परिचय के पश्चात शीघ्र भूल जाकर, प्रेम छोड़कर चले जानेवाले और अवसर पड़ने पर काम न आने वाले होते हैं, वे भी विश्वस्त और विश्वासघाती, सुखद और दुःखद होते हैं। कोई तो आकर हँसाते हैं और कोई रुलाते तथा पीड़ा देते हैं। कोई रिझाते हैं और कोई खिझाते हैं। इनका मानव-समाज से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है, परन्तु तभीतक, जबतक मनुष्य उनका ध्यान, विचार, स्वागत, एवं आदर-सत्कार करते हैं, उन्हें अपने साथ रखते तथा उनसे अदान-प्रदान, व्यवहारादि रख उनकी सेवा सुश्रूषा करते हैं।

ऐसा न करने वालों से रुष्ट होकर वे पृथक हो जाते हैं और बुलाने पर या तो आते ही नहीं और यदि आते भी हैं तो बड़ी कठिनता से तथा आकर शीघ्र ही चले जाते हैं। शब्द अपनी समाज में वैसे ही रहते हैं जैसे मनुष्य अपनी समाज में रहते हैं। वे सदाचारी भी हैं और दुराचारी भी। वे देश, काल और परिस्थिति को देखकर अपना व्यवहार फैलाते हैं। पात्र पात्र के साथ वे उसके ही अनुकूल अपना व्यवहार बना लेते हैं। उनमें भी भावनायें, कल्पनायें, वासनायें एवं वृत्तियाँ आदि रहती हैं, उनके भी विचार, भाव एवं मनो-विकार होते हैं। हम जिस प्रकार उनसे मिलते हैं वैसे ही वे भी हम से मिलते हैं। जैसा वे हम से व्यवहार पाते हैं वैसा ही वे हमें भी बदले में देते हैं। अतः स्पष्ट है कि हमें बड़ी बुद्धिमानी के साथ उनसे सम्पर्क एवं व्यवहार रखना चाहिये।

अतः आवश्यक है कि हम उन शब्दों को चुनेः—

(१) जो अच्छे श्रेष्ठ चिरपरिचित हैं।

(२) जो सभ्य, शिष्ट सद्‌गुणी तथा हितकारी हैं।

(३) जो अवसर पर सहायक होते, सच्ची सहानुभूति रखते तथा बुलाने पर सच्चे प्रेमी के समान आकर मतलब पूरा करते हैं।

(४) जो सच्चे, शुद्ध, निर्दोष, निर्विकार, स्पष्टवक्ता और प्रभाव-प्रतिभावान होकर बात के धनी हैं (अर्थ-कोष से पूर्ण सुवर्ण वाले हैं)

(५) जो सब प्रकार प्रौढ़, परिष्कृत और संस्कारों से युक्त हों अपनी समाज के चुने हुये प्रतिनिधि, उत्तम और उच्च हैं।

(६) जो सुखद, मंजुल, मधुरभाषी, और मनोरंजक हैं। कोमल, सरस तथा भावपूर्ण हैं, नीरस, कठिन और दुखद होकर बुरे नहीं हैं।

(७) जो गुणवान (ओज, माधुर्य और प्रसादयुक्त), शक्तिवान (अविधा, लक्षणा और व्यंजनादि से युक्त) सरल, उपयुक्त, उपादेय एवं सुबोध हों।

(८) जो चित्रोपम, विशेषार्थ बोधक, अपने पक्ष के, अपने समर्थक, परिपोषक, परिपालक तथा पुष्टि कारक हों।

सारांश यह कि शब्द-चयन में वैसा ही ध्यान एवं विचार रखना चाहिये जैसा मित्र-चयन (मित्रों के चुनने) में रक्खा जाता है। शब्द अपने मित्र ही हैं, यदि इनके साथ मित्रता रक्खी गई, किन्तु वे इसकी विपरीतता में शत्रु से हो जाते हैं, और भयंकर अनर्थ कर देते हैं, इसी महत्ता को देखकर इनकी इतनी विवेचना की गई है।

मुख्य सारांश:—शब्दों के अर्थ, उनके प्रयोग, उनकी शक्ति और गुणों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त उनको अच्छी तरह चतुरता के साथ, उनकी उपयोगिता, आवश्यकता तथा उपयुक्तता पर विशेष ध्यान रखते हुये चुनो। साथ ही साथ निम्नलिखित साधारण नियमों का विचार रक्खो:—

(१) सर्वसाधारण और व्यावहारिक (current) शब्द लो

(२) जहाँ तक हो सके और यदि तुम्हारा विषय आज्ञा देता हो तो, समूर्त या द्रव्य वाची (concrete or objective words.) शब्द ही उठाओ और अमूर्त एवं भाववाची शब्द छोड़ो—यह नियम विशेषतया कथात्मक तथा वर्णनात्मक निवन्धों में बहुत चरितार्थ होता है, व्याख्यात्मक तथा तार्किक विषयों के साथ नहीं, उनमें भाववाची तथा विरोधी या द्वैधी-भाव सूचक शब्द ही अधिक उपयुक्त होते हैं।

(३) रूढि शब्दों को योगिक शब्दों की अपेक्षा अच्छा समझो तथा उन्हीं का प्रयोग विशेष रूप से करो।

(४) सरल, स्पष्ट तथा सुबोध शब्द, जिनमें मँजुलता, मधुरता तथा शिष्ट मनोरञ्जकता के साथ ही साथ स्वाभाविक यथार्थता हो, क्लिष्ट, कठिन, और संदिग्ध शब्दों की अपेक्षा अधिक उपयोगी एवं समीचीन सिद्ध होते हैं।

(५) अपरिचित, नये गढ़े हुए, पारिभाषिक, प्रान्तिक, ग्रामीण तथा शिथिल शब्दों को नितान्त ही छोड़ दो।

लेख के विषय में

लेख या निबंध की परिभाषाः—साधारणतया मानसिक विचारों या भावों (चाहे वे किसी भी विषय के सम्बन्ध में हों) के संस्कार की हुई परिष्कृत साहित्यिक भाषा में लिखे गये रूप को लेख कह सकते हैं—मूलार्थ लेख का यही है कि जो कुछ लिखा गया हो। किन्तु अब यह शब्द एक विशेषार्थ में रूढ़ि हो गया है। इसका कभी २ अर्थ होता है अक्षरों या वर्णों की बनावट तथा उनके लिखे हुये रूप या आकार। बहुधा हम कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति का लेख अच्छा नहीं—अर्थात् उसका लिखना मनोनीत नहीं है, उसके अक्षर या वर्ण बुरे ढंग से लिखे गये हैं और वे देखने में भद्दे तथा बुरे लगते हैं, उनके आकार सुन्दर नहीं हैं—विपरीति इसके हम कहते हैं कि श्याम का लेख अच्छा है, उसका लिखना सुलेख है, वह सुलेख लिखता है" अर्थात् उसके लिखे हुये अक्षर सुन्दर आकार-प्रकार रखते हैं। यहाँ हमें इस अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं, हमारा तो इसके उसी अर्थ से यहाँ मुख्य प्रयोजन है जो रूढ़ि हो चुका है।

लेखः—अब प्रायः वह निबंध लेख कहलाता है जो किसी व्याख्यात्मक, विवादात्मक या तर्कात्मकादि विषयों पर विस्तृत विवेचना, गवेषणा एवं व्याख्या के साथ विषय के मुख्य मुख्य अंगों

को दिखालाता हुआ साहित्यिक शैली तथा पूर्ण परिमार्जित भाषा में रचना-चातुर्य तथा कला-कौशल के मनोरंजक चमत्कार एवं प्रभाव के साथ लिखा जाता है। ऐसे लेखों के लिखने की सामर्थ्य अभ्यस्त एवं विद्वानानुभवी लेखकों में ही होती है, यह कार्य विद्यार्थियों की पहुँच से परे रहता है, अतः इसकी विशद विवेचना हमारी समझ में यहां उपेक्षणीय है। हमारा तो यहाँ प्रबन्ध से ही मतलब है अतः उसी के विषय में विवेचना देना उचित है।

निबंध:—यह लेख से आकार-प्रकारादि में छोटा होता है और किसी विषय के एक मुख्यांग को लेकर उसी की विवेचना करता है। इस प्रकार की रचना में अन्यान्य रचनाओं के समान यौक्तिक क्रम अवश्य रहना चाहिये। कह सकते हैं कि "निबध्नाति विषयं सर्व प्रकारेण यत्तन्निबन्धम्" अर्थात् जो विषय को (तथा उसके विविधांगों, उपांगों एवं तत्सम्बन्धी विचारों या भावों को) सब प्रकार बाँधता है या सुव्यवस्था के साथ संयुक्त तथा संगठित करता है वह निबंध है। अथवा यों समझिये कि यह प्रबंध का कुछ परिवर्धित और व्याख्यात्मक रूप है। इसमें स्पष्ट तथा सुबोध रूप से गृहीत विषय का परिचय, तद्विकास तथा परिणाम यथाक्रमता, सुव्यवस्था, तथा स्वाभाविक सत्यता के साथ चमत्कार-चातुर्य से संगठित रहता है। विषय की स्वतंत्र व्याख्या करना इसका मूल तत्व है।

प्रबंधः—निबंध से छोटे आकार प्रकार वाला लेख प्रबंध कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति हम यों कर सकते हैं "प्रकर्षेण बध्नाति यत्तत्प्रबन्धम्"। भावोत्कर्ष के साथ जो किसी विषय को (तदंगोपांगों को) बाँधता, संगुम्फित तथा संघटित करता है वह प्रबंध है। इसके लिये वर्णन का व्यवस्थित होना आवश्यक है, यह व्याख्या का मुखापेक्षी नहीं, वरन् अपने विषय के वास्तविक विवरण या वृत्तान्त को सरल स्पष्टता, सुबोधिता, तथा सुव्यवस्था के साथ यथाक्रम प्रकाशित करता है। कथात्मक एवं वर्णनात्मक विषय ही इसकी सीमा के अन्तर्गत हो सकते हैं। हाँ इसमें स्वाभाविक चित्रोपमता, यथाक्रमता एवं धारावाहिकता एक नियमित तथा नियंत्रित सिलसिले के साथ अवश्य होनी चाहिये।

काव्यक्षेत्र में भी इसको स्थान प्राप्त है, और यह उसके साथ भी चलता है—जैसे 'प्रबंध-काव्य'।

रचनाः—यह एक बड़ा व्यापक शब्द है, तथा इसके व्यापकार्थ के भीतर उपर्युक्त तीनों प्रकार की रचनायें आ जाती हैं। इसकी सीमा के अन्तर्गत गद्य तथा पद्य दोनों अपना अपना अस्तित्व रखते हैं। रचना शब्द का मुख्य अर्थ 'बनाना' (सँवारना, सुधारना, सजाना) या निर्मित करना है। जिस समय किसी विचार या भाव का निर्माण भाषा में होता है तभी रचना की उत्पत्ति हो जाती है। प्रथम "शब्द-रचना" का जन्म होता है,

क्योंकि शब्दों के द्वारा ही मानसिक भावों का भाषा में प्रकाश होता है। तदन्तर शब्दावली को सहायता से पदों तथा वाक्यों की रचना होती है। शब्द-रचना की विवेचना करना "शब्द विचार या शब्द-विज्ञान का विषय है, जो हमारे उपस्थित विषय से सर्वथा परे है। हमारा तात्पर्य यहाँ केवल उस पद या वाक्य-रचना से हैं, जिसके द्वारा हम अपने मानसिक विचारों, भावों एवं कल्पनाओं को स्पष्टया व्यक्त करते हैं।

यदि इसके इतने संकीर्ण अर्थ को छोड़ कर कुछ ही और साधारण तथा परिवर्धित अर्थ लिया जावे तो हम कह सकते हैं कि:—

रचना:—भाषा में व्यक्त किये हुये, वाक्यों के रूप में प्रकट होने वाले हमारे विचारों का एक सुन्दर सुव्यवस्थित, स्पष्ट तथा सूक्ष्म (छोटा सा) समुच्चय है। कई विचारों या भावों को संयुक्त रूप में रखकर जब हम उनमें समता, एकता, सहयोगिता तथा सहचारिता लाते हैं और उनके द्वारा एक ही मुख्य विचार को प्रौढता, पुष्टता तथा प्रधानता के साथ प्रकट करते हैं तभी हमें रचना का रूप प्राप्त हो जाता है। रचना को अंग्रेजी में (Composition) कहते हैं। उर्दू में यह इबारत आराई तथा इसका विस्तृत रूप मज़मून कहलाता है।

अब हम रचना से प्रारम्भ करके प्रबन्ध, निबन्ध तथा लेख की सूक्ष्म विवेचना करेंगे। लेख को हम यहाँ छोड़ देते हैं, क्योंकि

उसकी विवेचना विस्तृत तथा गंभीर होकर हमारे विद्यार्थियों के क्षेत्र से सर्वथा बाहर है।

रचना के विषय में :—मानसिक भावों को प्रकाशित करने तथा लेख के द्वारा उन्हें फैलाने और दूसरों पर व्यक्त करने के लिये शब्दों और वाक्यों को संयुक्त करना रचना करना कहलाता है।

अच्छी रचना वही है जिसमें शब्द, पद तथा वाक्य इस ढंग से रक्खे गये हों कि विचार एवं भाव यथार्थता, स्पष्टता तथा मनोरञ्जकता के साथ व्यक्त हो जाते हों, वे समझे और याद रक्खे जा सकें। रचना के पथ-प्रदर्शक नियमों की जिस विज्ञान में विवेचना होती है उसे रचना-कला कह सकते हैं। जिस समय यह केवल मौखिक रूप में न रह कर (जब इसका सम्बन्ध वाणी एवं वाक् शक्ति से होता है तब इसे वक्तृत्व-कला कहते हैं) लेख-रूप में परिणित हो जाती हैं और अपना सीधा सम्बन्ध लेखनी ही से रखती है तब इसे लेखन-कला कहते हैं। हमारा यहाँ रचना-कला के इसी रूप से सम्बन्ध है, अतः हम इसी की विवेचना करेंगे क्योंकि इसी के अन्दर हमारे निबन्ध एवं प्रबन्ध आते हैं (लेख भी इन्हीं के साथ हैं)

रचना के तत्व:—रचना के मुख्य दो तत्व हैं:—(१) वे विचार एवं भाव जिन्हें व्यक्त करना है अर्थात मन की वे बातें जिन्हें लिखकर प्रकाशित करना है (२) वह ढंग, रीति या शैली

जिनमें उन्हें व्यक्त या प्रगट करना है। प्रथम को प्रकाश्य विषय तथा दूसरे को शैली कहते हैं। अब स्पष्ट है कि प्रथम कुछ कथनीय या प्रकाशनीय विषय हो और तब वह अच्छी तरह प्रकाशित किया जावे।

नोट :—ध्यान रहे कि किसी विषय को वाणी के द्वारा व्यक्त करना और बात है, यह कार्य तो कुछ सीधा है किन्तु उसी विषय के लेखनी के द्वारा प्रकट करना और बात है तथा यह कुछ कठिन कार्य है। साथ ही यह भी स्पष्ट रहे कि बोलने के लिये भाषा का दूसरा रूप रहता है और लिखने में उसका रूप दूसरा हो जाता है। यह भी स्मर्ण रहे कि बोलने वाली (बोली) भाषा भी अपने विविध रूप जैसे, ग्रमीण, नागरिक आदि (प्रान्तिक) रखती है। इसके परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप को, जिसका प्रयोग विद्वान लोग (पढ़े-लिखे साक्षर, सज्ञान) करते हैं और जिसके द्वारा साहित्य बनता है, साहित्यक भाषा कहते हैं, इसका प्रयोग-प्राचुर्य, विशेषतया लिखने में ही देखा जाता है, हां विद्वान लोग इसका व्यवहार बोल-चाल में भी किया करते हैं। इसके भी दो पृथक रूप होते हैं—(१) बोली जाने वाली संस्कृत (संस्कार की हुई) एव परिमार्जित साहित्योचित भाषा (२) लिखी जाने वाली साहित्यिक भाषा। रचना में इसी लिखी जाने वाली साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया जाता है, यह बोली जाने वाली साहित्यिक-भाषा से कुछ ही भिन्न होती है, बहुत थोड़ा अन्तर इनदोनों के आकर-प्रकार एवं

रूप और ढंग में होता है) यद्यपि विचार, भाषा के किसी रूप में आते हैं परन्तु लिखते समय उनकी भाषा का वह रूप बदल दिया जाता है और विचारों को लेख की भाषा में ही अनुवादित कर लिया जाता है। बोलने और लिखने के ढंगों में अन्तर रहता है। हाँ दोनों का उद्देश्य एवं लक्ष्य एक ही रहता है, वह है प्रकाशनीय विषय को उसी प्रकार दूसरों से स्पष्ट करना या दिखाना जैसे प्रकाशक उसे चाहे। लिखने की भाषा तथा शैली पर हमें इसीलिये विशेष ध्यान देना पड़ता है तथा उन्हें इसी लिये एक समीचीन तथा विशेषोचित रूप देना पड़ता है कि उनको हमें स्थायी बनाना रहता है, उनके द्वारा हमें अपने भावों को स्थैर्य देना पड़ता है तथा उनमें फिर हमें दोष और त्रुटि दूर करने का मौक़ा नहीं मिलता। इनके ही सहारे हमें अपने विचारों को यथाक्रमता के साथ सदा के लिये तथा सभी आदमियों के हेतु स्पष्ट करना होता है तथा पाठकों को समझाने के लिये उसे प्रभावी एवं सुबोध बनाने के उचित ढंग को वर्तना पड़ता है।

यही कारण है कि लेख की भाषा एवं शैली बोलने की भाषा एवं शैली से भिन्न हो जाती है, वैसे अपने वास्तविक स्वभाव में तो दोनों साम्य रखती ही हैं। जब शब्द, वाक्य, तद्रचना एवं तद्विन्यासादि चमत्कार के साथ जिस रचना में अपने यथार्थ एवं अभीष्ट अर्थ के देने में समर्थ होते हैं तभी हम उसे कला-पूर्ण एवं रचना-कला के गुणों से युक्त रचना कहते हैं।

रचना के मूल सिद्धान्तः—(१) सामग्री-चयनः—लेखक को अपने प्रकाश्य-विषय की सामग्री के चुनने में पटुवअभ्यास्त होना चाहिये। उसे यह जानना चाहिये कि क्या दिया जावे और क्या छोड़ा जावे, साथ ही उसका सारा अभिप्राय भी सिद्ध हो जावे।

(२) सामग्री-संयोजना (संगठन):—चुनी हुई सामग्री को चतुर सुव्यवस्था तथा क्रमानुसार रोचक ढंग से रखना चाहिये। इस में यदि कुशलता एवं सफलता प्राप्त हुई तो लेख में मूल्य तथा प्रभाव आ जाता है और वह स्पष्ट, प्रभाव-प्रतिभावान, सरल, सुबोध, तथा मनोनीत हो जाता है।

जिस प्रकार एक माली पुष्पों को चुन उन्हें एक सूत्र में गूँधकर एक मंजुल माला बनाता है उसी प्रकार एक लेखक अपने भावों एवं विचारों की सुरभि से भरे हुये शब्दों, पदों तथा वाक्यों को एक साथ सजाकर एक लेख के रूप में रखता है। अतः स्पष्ट है कि लेखक की सामग्री उसके भावों से भरे हुये शब्दों, पदों तथा वाक्यों के रूप में होती है। उनको एक सूत्र में सजाकर रखने में ही उसकी कला-कुशलता तथा चतुरता है। इस सामग्री को एक चमत्कृत ढङ्ग या आकर्षक तथा मनोरञ्जक रीति से सजाकर एक सुन्दर आकार-प्रकार में देने की नीति ही का नाम चतुर शैली है।

जिस प्रकार एक राज ईंट, चूना, गारा तथा प्रस्तर-खंडों

के रूप में एकत्रित की गई सामग्री से अपनी कला-कुशलता कल्पना एवं रुचि के द्वारा किसी उद्देश्य को सामने रखते हुये एक मनोरम अट्टालिका बनाता है, उसी प्रकार एक लेखक भी शब्दों, पदों, वाक्यों की सामग्री से एक विशेषाभीष्ट आकृति का महल रूपी लेख तैय्यार करता है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि रचना के ३ मुख्य तत्व हैं:—

(१) सामग्री—शब्द, वाक्य, पदादि (भाषा)

(२) उनका आकार या चित्र—उनसे बने हुये लेख का रूप या चित्र जिसे वह मन में रखकर लेख रूपी अट्टालिका बनावेगा।

(३) सामग्री के सजाने का ढंग—इससे लेखक की कला-कुशलता तथा चातुय से रची गई शैली से तात्पर्य है।

जिस प्रकार महल के दो पटल होते हैं उसी प्रकार लेख के भी दो पटल होते हैं:—

१—वहिरंग पटलः—लेख का आवरण-भाग, या भाषा—यह भी महल के समान सजाया तथा सुन्दर बनाया जाता है, इसके लिये, (१) स्वच्छता—लिखने में सफाई (२) सुलेख—या सुन्दर लिखना (३) चिन्हादिक-उपकरण—विराम, अर्ध विराम तथा आदेशकादि चिन्ह, जिनसे वाक्यों में स्पष्टता, सुन्दरता तथा सुवोधिता आती है।

(२) **अंतरंग पटलः**—इसमें महल के भीतर रहने वालों के समान भाव, विचार, अर्थादि आते हैं।

लेखक का महल उसका विषय है, जिसे वह रचता है। वह प्रथम उसका मान चित्र (ख़ाका या ढाँचा) अपने एक विशेष उद्देश्य या लक्ष्य के साथ बना लेता है फिर उसी के आधार पर सामग्री का संयोजन करता है और शैली रूपी चतुर कला-कौशल से महल रूपी लेख तैय्यार करता है।

यदि सामग्री अच्छी हो और लेखक भी चतुर तथा कला-कुशल हो तो रचना बड़ी ही अच्छी होगी। किन्तु यदि सामग्री साधारण हो, और लेखक चतुर एव अनुभवी हो, तो भी अपने कला-कौशल से उसे वह अच्छे रूप में रच देगा। बुरी सामग्री से भी एक चतुर कलाविज्ञ रचना का अच्छा नमूना तैय्यार कर देगा। किन्तु सामग्री बहुत ही अच्छी क्यों न हो,यदि वह बुरे रचयिता के हाथ में पड़ी तो सर्वथा अमनोनीत ही रचना में आवेगी। स्पष्ट है कि लेखक को ख़ूब अनुभवी, कला-कुशल, चतुर तथा अभ्यस्त होना चाहिये। उसकी कल्पना, रुचि तथा स्मरण शक्ति को भी प्रौढ़ और परिपक्व रूप से परिमार्जित तीव्र और सौम्य होना चाहिये।

सामग्री के भी दो रूप होते हैं (१) अप्रगट—इसमें भाव, विचार तथा कल्पनायें आदि आती हैं—(२) प्रगटः—यह शब्दों, पदों, तथा वाक्यों के रूप में होती है।

सामग्री-प्राप्तिः—सामग्री की प्राप्ति ३ प्रकारसे होती हैः—

(१) स्वानुभवः—स्वयमेव सब पदार्थों, वस्तुओं, स्थानों, एवं विषयों आदि का अनुभव एवं ज्ञान, भ्रमण, देशाटन या यात्रादि के द्वारा निरीक्षण, परीक्षण एवं श्रवणादि की साहाय्य से प्राप्त करना स्वानुभव ज्ञान है।

(२) कल्पना—अपनी कल्पना के द्वारा कोई विषय सोच-विचार कर खोज निकालना, और अनुभावादि से उसे पुष्ट करना ही कल्पना जन्य सामग्री को उपार्जित करना है—जैसे कल्पित कथायें, गल्पें, उपन्यासादि।

(३) परानुभव से—दूसरे विद्वान तथा प्रख्यात लेखकों की पुस्तकों एवं ग्रन्थों का अध्ययन करना तथा उन्हें समझकर ज्ञानोपार्जन करना और अच्छी २ मुख्य २ बातें एकत्रित कर लेना परानुभवजन्य सामग्री का चयन करना है।

इस प्रकार जब ख़ूब सामग्री एकत्रित हो जावे तब उसका प्रयोग कैसे और कहां, किस क्रम से तथा कितना हो इन बातों पर विचार करना चाहिये। इस विचार के साथ अपनी एक पृथक व्योरे वार अनुक्रमणिका या तालिका बना लेनी चाहिये, इसी सूची के अनुसार सामग्री का प्रयोग करना चाहिये।

सामग्री-प्रयोग:—"सूक्ष्म और विषय-सम्बन्धी"—(Brief and to the point) इसका ध्यान रखना मुख्य बात है और इसके लिये उचित यही है कि :—

(१) आवश्यक एवं अनावश्यक बातों का विश्लोषण कर लिया जावे।

(२) आवश्यक एवं उपयुक्त बातें ही रक्खी जावें, शेष छोड़ दी जावें।

(३) सभी बातें अपने गृहीत विषय से ही सम्बन्ध रखने वाली हों तथा उसी से पूर्णतया सम्बद्ध भी रहें, साथ ही वे अपनी रुचि और पाठकों की जिज्ञसोत्कंठा में उत्तेजना और संतोष के उत्पन्न करने वाली, मनोरञ्जक और आकर्षक हों। वे अपने अभिप्राय के अनुकूल, उसे पुष्ट, प्रभावित तथा सूचित करने वाली हों। इसके अनन्तर सामग्री का लेख में संगठन करना आता है।

सामग्री-संगठनः—यह एक प्रकार से सामग्री-प्रयोग के ही अन्तर्गत है तो भी हम स्पष्टता तथा सरलता के लिये इसे पृथक दिखाते हैंः—इसके लिये आवश्यक है किः—(१) विषय-सम्बन्धी सामग्री के विविधांगों या अवयवों का उचित क्रम तथा उपयुक्त व्यवस्था के साथ एक संघ बना लिया जावे। हां यह ध्यान रहे कि ऐसे संघों तथा अवयवों में अंगागी भाव एवं अन्योन्याश्रय सम्बन्ध निरन्तर ही रहे। इस प्रकार एक पथप्रदर्शक सामान चित्र तथा ढाँचा बना-लिया-जावे और फिर :—

(२) उसके अवव्यवों या अंगों का क्रमानुसार उपयुक्त रीति-नीति से विकास या विवरण युक्त व्याख्यात्मक वर्णन दिया जावे। ऐसा करते समय ध्यान रहे कि तुम्हारे संघटन या संगठन

में :—क—एकता (Unity) अर्थात् विविधांगों को साम्य-भाव के साथ संयुक्त करके एक रुपता दी जावे, सब ऐसे दीखें मानो एक कलेवर के ही अंग हैं। उनमें पार्थक्य (जो अंगों में स्वाभाविक है) रहता हुआ भी एक विशेष नियमित एकता दीखाती रहे ख—यौक्तिक-क्रम (Logical Seqence) अर्थात् सभी अंग एक निश्चित क्रम के अनुसार सजाये जावें, जिससे व्यतिक्रमता का दोष न दीखने पावे। चाहे किसी भी सिद्धान्त या उद्देश्य के अनुकूल यह किया जावे परन्तु रहे वह स्वाभाविक रूप और सत्यता के साथ अवश्य। ग—प्रभाव या वल (Emphasis) अर्थात् मुख्य बात पर अधिक बल दिया जावे, उसी की प्रधानता रहे, तथा उसी को पुष्टि मिले, अन्यान्य बातें उसकी सहायता करें तथा उसमें स्पष्टता और विकास की स्फूर्ति सर्वथा पूर्ति के साथ रहे, वे उसके पीछे २ अनु-यायी या अनुगामी के रूप में चलें, तथा उसकी सहयोगी रहें घ—मुख्य बात आदि या अन्त में, विषयानुकूलता को देखते हुये ही दी जावें।

मध्य का कलेवर साधारण एवं सहायक बातों से बनाया जावे। किन्तु यह क्रम सर्वथा विषय तथा लेखक की ही रुचि पर निर्भर है। यह तो एक साधारण नियम है।

अब हम संक्षेप से वाक्य-रचना, पर विचार करते हैं और केवल मुख्य मुख्य एवं आवश्यक नियम या बातें

जो व्यापक एवं साधारण हैं बतलाते हैं। क्योंकि वाक्य ही रचना के मूलाधार हैं, इन्ही से उसकी देह बनती है।

वाक्य:—शब्दों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं जो एक पूर्णार्थ या भाव को स्पष्ट करता हो। अर्थांश को प्रकट करने वाले शब्द-समूह को पद कहते हैं। वाक्य के लिये दो बातें आवश्यक हैं:— १. उद्देश्यः—जिसके विषय में कुछ कहा या प्रकाशित किया जावे २. विधेय जो कुछ कहा या प्रकट किया जावे। व्याकरण में "वाक्य-विचार" के विभाग में इस विषय की (उद्देश्य और विधेय के सँयोग के विषय की) विवेचना की गई है, विद्यार्थियों को उचित है कि उसको पूर्णतया समझ तथा याद कर लें। उद्देश्य और विधेय को मिलाने वाला शब्द या शब्द-समूह सँयोजक कहलाता है, इसे व्याकरण में अव्ययादि के अन्दर रक्खा गया है। किन्तु वस्तुतः यह क्रिया का ही रूप है—व्याकरण में क्रिया उसे कहते हैं जो किसी कार्य या व्यापार का होना, करना आदि स्पष्ट करती है।

अब वाक्यों को हम दो प्रकार से विभक्त कर सकते हैं:—(१) व्याकरणानुसार (२) रचना-कलानुसार। हमारा तात्पर्य यहां प्रथम से नहीं, क्योंकि उसका हमारे विषय से सीधा सम्बन्ध नहीं, वह व्याकरण का विषय है जिसे हमारे विद्यार्थी वहीं पायें और पढ़ेंगे। हमारा काम यहाँ दूसरे प्रकार के विभाग से है, वही हमारे विषय से पूर्णतः सम्बद्ध भी है।

हाँ इतना हम अवश्य कहेंगे कि शुद्धता, नियमितता, तथा नियंत्रितता के लिये जब तक भाषा पर अपना पूर्णाधिकार न हो जावे व्याकरण के वर्गी करण तथा उसके नियमों का जानना, समझना तथा निबाहना परमावश्यक है। व्याकरण के नियमों से भाषा को एक नियमित रूपता, जो स्थायी होकर स्थायी साहित्य के लिये उपयोगी होती है, प्राप्त होती है तथा इसी के द्वारा भाषा के एक रूप को व्यापकता तथा विस्तृत सार्व लौकिता प्राप्त होती है जो साहित्य के लिये परमावश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। बिना व्याकरण के भाषा का रूप ही स्थिर नहीं होता, अतः विद्यार्थियों को व्याकरण पर प्रथम पूर्ण ध्यान देना चाहिये, उसमें अभ्यास होजाने पर ही लेखन या रचना-कला की ओर बढ़ना चाहिये। व्याकरणानुसार वाक्य-विभाग के लिये देखो कोई व्याकरण की पुस्तक। रचना-कला के विचार से वाक्यों का वर्गी करण यों होता है :—

(१) **विश्राम-विहीन वाक्य** (अविश्रान्त वाक्य) :—वह वाक्य है जिसका पूर्ण अर्थ या भाव तब स्पष्ट होता है जब वाक्य अपने अंत तक पहुंच्च जाता है। बिना आद्योपान्त उस वाक्य को पढ़े भाव स्पष्ट नहीं हो सकता, उसमें भाव के लिये विश्राम नहीं होता, वह लगातार अन्त तक बढ़ता ही जाता है, और वहीं पूर्ण होता है। यथा :—"जैसे ही सती शैव्या महारानी के मुखारविन्द से यह शब्द कि आज यदि आर्य्यपुत्र यहाँ पर

विद्यमान होते तो क्या उनका प्यारा पुत्र इसी प्रकार की दीन-हीन दशा में अपने अंतिम संस्कार को प्राप्त होता, बाहर बड़े कारुणिक एवं कातर स्वर में निकले वैसे ही मेघाच्छन्न आकाश में विद्युत्प्रकाश की उज्वल रश्मि कलित कान्ति के साथ चारों ओर छिटक गई और श्मशान-रक्षक के रूप में महाराज हरिश्चन्द्र लाठी और कम्बल लिये हुये 'देवी! तुम कौन हो! कहाँ से आई हो? यह मृतक तुम्हारा कौन है? तथा इसका अंतिम संस्कार बिना कफन रूपी कर चुकाये ही कैसे करने पर उद्यत हो? कातर स्वर से क्या कह रही हो, महाराज हरिश्चन्द्र से इस शव का क्या सम्बन्ध? आदि वाक्यों के साथ सामने दिखाई पड़े।"

इस प्रकार के वाक्य में एक या दो मुख्य भाव रहते हैं और उन्हीं भावों से भरे हुये वाक्य प्रधान वाक्य कहलाते हैं, शेष वाक्य या पद सहायक होते हैं। इस प्रकार के वाक्य के लिये अच्छी व्यवस्था, यथाक्रमता तथा स्पष्ट एकता की आवश्ययकता है। इस वाक्य की गति में धारावाहिकता होनी चाहिये। समस्त प्रवाह अवाध रूप से ही आगे बढ़ता चले। इसके लिये संयोजन-चातुर्य का होना परमावश्यक है। इसकी शृंखला ख़ूब संवद्ध होनी चाहिये।

(२) श्रान्त एवं शिथिल वाक्य:—इसमें व्याकरणात्मक यति एक या कई स्थानों पर पूर्ति के प्रथम ही आती रहती है

जिसके कारण भावार्थ में भी विश्राम आता रहता है। ऐसा होने से इसकी गति में शिथिलता आ जाती है। भावों का रंग भी भंग हो जाता है और प्रत्येक खंड अपना स्वतंत्र अस्तित्व सा रखता है। यथाः—"डूबती हुई नौका से कूद कर वीरेंद्र लहरों की उलझन में जा पड़ा,। तरंगावली उसके ऊपर से सवेग उद्वोलित होती जाती थी, और उसे डुबोने के भय से प्रतिपल त्रस्त करती जाती थी, किन्तु किसी प्रकार वह उनकी भारी भीर को चीर कर तीर के समान सरिता-तीर पर आ ही गया।"

इस प्रकार के वाक्यों की रचना सरल तो होती है परन्तु बहुत रोचक तथा चमत्कार-पूर्ण नहीं होती। ऐसी वाक्य-रचना कथाओं, गल्पों तथा उपन्यासों आदि सरल विषयों के लिये जिन में अनेक घटनायें शीघ्रता से घटित होती हैं अधिक उपयुक्त होती है। हां ऐसी रचना में त्रुटियों एवं दोषों के हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है। बहुधा यह रचना सदोष ही मिलती है और लेखक की अव्यक्त प्रकाशन-रीति तथा लापरवाही ही को सूचित करती है।

हाँ इसमें तनिकही परिवर्तन कर देने से इसका रूप अवि-श्रान्त वाक्य के समान ही हो जाता है। यथाः—'डूबती हुई नौका से कूद कर वीरेन्द्र लहरों की उलझन में जापड़ा जहाँ तरंगावली उसके ऊपर से सवेग उद्वेलित होती उसे प्रतिपल डुबाने के भय से त्रस्त करती जाती थी तथापि वह किसी प्रकार उनकी..........."

(३) **सम वाक्य** (परिमित या तुला हुआ वाक्य) :—जिसमें शब्द तथा पद ख़ूब चुने नपे और तुले हुये हों। एक भाग के शब्दों, पदों एवं वाक्यों की समानता दूसरे भाग के शब्दों, पदों एवं वाक्यों से सभी प्रकार आकार-प्रकारादि में रहे। इस प्रकार जिसमें सर्वथा नियमितता एवं परिमितता रहे, उसे सम-वाक्य-रचना कहते हैं। इस प्रकार की रचना के लिये दो भिन्न विचार-धाराओं के पृथक पृथक प्रवाहों का साथ ही साथ होना आवश्यक है। इस रचना की भाव-स्पष्टता दो भिन्न विचारों के स्वाभाविक अन्तर के बल-प्रभाव पर ही निर्भर रहती है। इस रचना का प्रयोग तार्किक एवं विवाद-ग्रस्त विषयों में अच्छा लगता है, किन्तु इसका विस्तार उपेक्षणीय तथा अनापेक्षित ही होता है। यह तुलनात्मक रचना, वाक्यों की व्याकरणानुसार बनावट तथा बल-प्रभाव के परिवर्तन-प्रवाह ही पर समाधारित रहती है।

(४) **दीर्घादीर्घ वाक्य** (सूक्ष्मासूक्ष्म या छोटे बड़े वाक्य):—वाक्यों की बड़ाई और छोटाई शब्दों तथा पदों की संख्या पर ही निर्भर है। कोई वाक्य छोटा तथा कोई बड़ा होता है। दोनों प्रकार के वाक्य अपनी २ महत्ता सत्ता रखते हैं, कहीं छोटे वाक्य अच्छे बैठते हैं और कहीं बड़े वाक्य। शैली-सौष्ठव के लिये इन दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग ख़ूब उपयुक्त होना चाहिये। इनके सामंजस्य से शैली में एक विशेष रोचकता आ जाती है।

छोटे वाक्य सरल, सुबोध एवं स्पष्ट होते हैं, अनेक बड़े वाक्यों के पश्चात् आकर ये रचना में रुचिरता बढ़ा देते हैं। इनसे एक प्रकार की सजीवता सी आ जाती है और विश्राम मिल जाता है। किन्तु इनका प्रयोग-प्राचुर्य एवं बाहुल्य शैली एवं रचना में रुकावट, गति या धारावाहिकता में बाधा तथा विश्रामों से उन्मनता उत्पन्न करता है।

बड़े और लम्बे वाक्यों से यह लाभ है कि उनमें विवरण (details) का आधिक्य सरलता के साथ रखा जा सकता है जिससे विचार या भाव का पूर्ण एवं विस्तृत विकास हो जाता है। यदि वे सुव्यवस्थित रूप में रक्खे जायें तो उनमें भी पर्याप्त धारावाहिकता का माधुर्य, लय का लालित्य तथा चतुर चमत्कार का मनोरम सौंदर्य आ सकता है।

भिन्न २ वाक्यों का उपयोगः—यद्यपि इस विषय में कुछ बहुत निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता और न कोई निश्चित नियम ही दिया जा सकता है तो भी कुछ साधारण सिद्धान्त एवं व्यापक नियम प्रारम्भिक अवस्था में सहायक एवं पथ-प्रदर्शक का कार्य अच्छी तरह करके बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उन्हीं को हम यहाँ संक्षेप रूप में दे रहे हैं।

(१) ओज और दृढ़ता लाने के लिये अविश्रान्त वाक्यावली का प्रयोग रचना में उपयुक्त होता है। यह हम ऊपर भी स्पष्ट कर चुके हैं।

(२) सीधी-सादी, सुबोध एवं सरल स्पष्टता लाने के लिये शिथिल एवं विश्रान्त वाक्यावली का प्रयोग अच्छा होता है। कथात्मक तथा वर्णनात्मक विषयों में इनका उपयोग रुचिकर तथा रुचिर होता है। छोटे २ वाक्यों की कड़ियों से जो व्यवस्थित लड़ियाँ बनाई जाती हैं वे मंजुल, मधुर एवं मनोरम होती हैं।

(३) विवाद-ग्रस्त एवं तुलनात्मक विषयों के लिये सम-वाक्यों या तुले हुये (Balanced) पदों से पूर्ण रचना अधिक उपयोगी एवं उचित होती है। इन्हीं वाक्यों के द्वारा चरित्र-चित्रण भी अच्छी तरह किया जा सकता है। हास्य-पूर्ण विषयों में भी इनका प्रयोग रोचकता लाता है। व्याख्यात्मक तथा तार्किक विषयों, प्रहसनों तथा उपन्यासादि में, जिनमें चरित्र-चित्रण मुख्य होता है, इस प्रकार के वाक्यों की रचना बहुत समीचीन सिद्ध होती है।

नोटः—ध्यान रहे कि ये नियम केवल साधारण और व्यापक रूप में ही दिये गये हैं और पथ-प्रदर्शक मात्र हैं। अभ्यस्त एवं विद्वान लेखक जिन्हें भाषा तथा तत्प्रयोग में पूर्णाधिकार एवं आधिपत्य प्राप्त है इनकी अवहेलना भी करते हैं और अपने विषय तथा अपनी रुचि के ही अनुसार भिन्न प्रकार के वाक्यों का नव निर्माण व प्रयोग करते हुये सफलता प्राप्त करते हैं। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में, विद्यार्थियों को इन्हीं के अनुसार अभ्यास करना सर्वथा उचित

जान पड़ता है। हाँ, वे सिद्धहस्त लेखकों की नवीन शैलियों का मनन कर उनका अनुकरण अवश्य करें और अपने अभ्यास को बढ़ावें। भाषा में पूर्णाधिपत्य प्राप्त होने पर वे इन नियमों की सीमा से स्वयमेव सहज ही में परे होकर सफल लेखक हो जावेंगे।

वाक्य-रचना में अभ्यस्त हो जाने पर विद्यार्थियों को निम्न बातों में भी कुशलता पूर्वक अभ्यास कर लेना चाहिये, इसके प्रथम कि वे रचना की विशेषता या लेखन-कला की ओर (लेख-निबंधादि के लिखने की ओर) अपने को अग्रसर करें।

(१) **वाक्य-विश्लेषण** (Analysis) :—वाक्यों को उनके उचित तथा स्वभाविक भागों में विभक्त करना या तोड़ना। फिर उन्हें व्याख्या, व्याकरण, वैचित्र्य एवं विचारानुसार समझना।

(२) **संश्लेषण या संयोजन** (Synthesis) :—वाक्यों के भिन्नभिन्न अंगों को क्रमानुसार सुव्यवस्था तथा एकता के साथ एक में जोड़ना और स्वभाविक सत्यता तथा यथाक्रमता के साथ विचारों को संयुक्त करके उनकी एक सुगुंफित मालिका बनना।

(३) **संक्षेपकरण** (Summarising) किसी विस्तृत वाक्यमाला को सूक्ष्म रूप देना तथा उसके सार या मूल तत्व को

लेकर संक्षेप रूप में स्पष्टता के साथ रखना । अनिवार्यावश्यक बातों या विचारों ही को चुनकर थोड़े में व्यक्त करना ।

(४) **परिवर्धन** (Expanding) — मूल तथा मुख्य विचार वाले वाक्य को लेकर उसका विकास करना, या विस्तृत रूप देना, परन्तु व्यर्थ के लिये उसे निरर्थकता के साथ शब्दाडम्बर से न भर देना । परिवर्तन में सार्थकता तथा स्वाभाविकता का निरंतर ध्यान रखना चाहिये । विकसित वाक्य प्रधान विचार वाले वाक्य के सदैव सहायक एवं परिपोषक रहें ।

(५) **पुनर्प्रकाशन या पुनर्लेखन** (Rewriting) किसी विचारमाला को पढ़ या सुनकर उसे अपनी या सम्भवतः मुख्य लेखक की ही भाषा में पुनरेव प्रकाशित करना या लिखना । इसका सम्बन्ध स्मरणशक्ति से है ।

(६) **अनुवाद** (Translation) किसी विचार - माला को अपनी भाषा में स्पष्टता, सत्यता तथा यथार्थता के साथ व्यक्त करना ।

इन सब प्रक्रियाओं के नियम व्याकरण के ग्रंथों में मिलेंगे, यहाँ विस्तार-भय से हम देना उचित नहीं समझते । इन सब में अभ्यास हो जाने पर विद्यार्थियों को निम्न बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि वे लेखन-कला में सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक और अनिवार्य है—कहना चाहिये कि वे ही आधारभूत सच्चे सोपान हैं । उनमें दक्षता प्राप्त किये बिना

लेखन-कला में कुशल होना एक प्रकार से असम्भव ही है।

(१) प्रौढ़ सुन्दर और विशद शब्द-कोषोपार्जनः—जितना ही विस्तृत और विशाल शब्द-कोष (Vocabulary) अपने अधिकार में होगा, उतनी ही सफलता विचारों के सोचने, समझने (समझाने) तथा स्पष्टता, सत्यता और यथार्थता के साथ उन्हें व्यक्त करने में होगी। यही बात लेखक तथा लेख के लिये अनिवार्य और आवश्यक है।

शब्दों के वास्तविक अर्थों, भावों एवं प्रयोगों से भी पूर्ण परिचय प्राप्त करना परमावश्यक है, इस पर हम प्रथम ही कह चुके हैं। साथ ही शब्दों के साहित्यिक और लौकिक आकार-प्रकार (रूप एवं अवस्था), प्रयोग तथा उन में अर्थ-परिवर्तनादि का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित है, नहीं तो अनेकों दोष लेख में आ उपस्थित होंगे।

शब्द-कोष के रूपः—(१) एकार्थ वाची अनेक शब्द (पर्याय वाची शब्द) या पद जैसेः—विधु उड़पति, द्विजराज शशि, इंदु, कलाधर, चन्द्र। राकापति, रजनीश अरु, औषधीश बुधनन्द। आदि, इसी प्रकार अन्य एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द जान लेने चाहिये।

नोट :—समूर्त और अमूर्त शब्द (५) विरोधी भाववाले शब्दः जो एक दूसरे के उल्टे अर्थ रखते हों और प्रभाव एवँ बल पूर्ण

हों। (६) चित्रोपम शब्द (७) विशेषार्थबोधक (८) व्यापकोदार (६) द्वैधीभाव मूलक (१०) भाव एवं विकारोत्तेजक (११) प्रौढ़ और शिथिल शब्द (१२) सार्थक और निरर्थक (१३) पदच्युत या वहिष्कृत (१४ प्रचलित और परिष्कृत शब्द। इस प्रकार शब्दों के अनेक भेद हैं।

नोटः—ध्यान रहे कि इन सब शब्दों के यथार्थ अर्थों एवं भावों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता है और इसी लिये इनके प्रयोगों में भी भेद पड़ता है, वास्तव में एक ही अर्थ के सूचक ये सब नहीं, तौ भी, कह सकते हैं, और ऐसा ही माना भी गया है, कि ये एक व्यापक और सर्वसाधारण अर्थ के द्योतक हैं। इनके द्वारा एक ही बात को भिन्न भिन्न प्रकार के भिन्न २ शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं।

(२) अनेकार्थवाची शब्द या पदः—अनेक अर्थों एवं भावों को सूचित करने वाले शब्द या पद भी ज्ञतव्य हैं। इनके भिन्न भिन्न अर्थों का पता, इनके प्रयोग, प्रसंग तथा इनकी अविधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति से चलता है (देखो काव्यनिर्णय पृ० ८,६—वेलविडियर प्रेस संस्करण) यथाः—मधु बसंत, मधु चैत है, मधु मदिरा, मकरंद। आदि, ऐसे शब्दों से भाषा एवं लेख में न्यूनता और भाव-गम्यता आती है।

(३) शुद्ध साहित्यिक, परिमार्जित एवं परिष्कृत शब्द या पदः—जिनका प्रयोग साहित्यिक भाषा ही में होता है और बोल-

चाल की बोली में नहीं या बहुत कम होता है और वह भी केवल विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञों के द्वारा ही।

(४) व्यावहारिक शब्द या पद (current words) साधारण व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द, पद अथवा मुहावरे।

(२) अनुभवज्ञानोर्जन:—इसके लिये आवश्यक हैं निम्न बातें या साधन:—

(१) पर्यटन, सत्संग, निरीक्षण, कल्पना, स्मरण शक्ति।

(२) स्वाध्याय या पुस्तकावलोकन, मनन, चिन्तन, निर्णय और विवेक।

(३) अनुकरण:—सिद्धहस्त विद्वान् लेखकों का अनुकरण।

इनके द्वारा अपने ज्ञान और अनुभव की वृद्धि करके विचारों एवं भावों का एक अच्छा वृहत्कोष अपने अधिकार में रख लेना उचित है। तदनन्तर लिखने और अपने मानसिक विचारों के प्रकट करने में (अच्छी भाषा एवं शैली के द्वारा) अभ्यास करना चाहिये।

नोट:—शब्दों का विभाग और उनका वर्गीकरण भिन्न भिन्न उद्देश्यों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का हो सकता है। उपर्युक्त वर्गीकरण शब्दों की अर्थशक्ति के विचार से किया गया है। व्याकरण के अनुसार शब्द (१) सार्थक (२) निरर्थक होकर (१) संज्ञा (२) क्रिया (३) अव्यय और

संज्ञायें (क) जाति, (ख) व्यक्ति (ग) गुण (घ) भाव तथा (च) रुढ़ि (छ) योगिक (ज) योगिरुढ़ि आदि होती हैं। विद्यार्थी गण इनसे परिचित ही होंगे अतः हम इस विवेचना को छोड़ रहे हैं।

निबंध के सम्बन्ध में:—निबंध एवं प्रबंध के सम्बन्ध में हम ने मुख्य मुख्य बातें ऊपर दे ही दी हैं। निवंध के भेद तथा उनकी विवेचना पर आवश्यक विचार भी हम ने पृथक् दे दिये हैं। यहाँ हम कुछ व्यापक और उपयुक्त बातें देना उचित समझते हैं।

निवंध किसी विषय का विश्लेषण तथा विकास ही मात्र है। डा० जान्सन के विचार से "निबंध मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन मात्र है उसमें यथाक्रमता और एक शृंखलता नहीं होती"। किन्तु यह परिभाषा आधुनिक समय के निवंधों पर घटित नहीं होती। यह आधुनिक निबधों के बिलकुल विपरीत या उल्टी प्रतीत होती है।

संतोष का विषय है कि किसी भी समय में भारतीय साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों का ऐसा विचार या मत निबंध के सम्बन्ध में नहीं रहा। पाश्चात्य विद्वानों ने भी डा० जान्सेन की इस परिभाषा को अप्रमाणित माना है तथा निबंध की इसके विरुद्ध यह परिभाषा दी है:—'निबंध लेखक के उस मन-मस्तिष्क का आलेख्य या चित्र है जिस पर एक काल विशेष में एक विषय

विशेष का पूर्ण प्रतिविम्ब या प्रभाव पड़ा है। यह किसी विषय का केवल विश्लेषण एवं सार-संग्रह ही नहीं है। इसका सबसे प्रधान लक्षण आत्म-प्रकाशन एवं आत्म-कथना ही है, इस में लेखक की आत्मा का पूरा प्रतिविम्ब झलकता रहता है। यह उस के मन का स्वच्छ दर्पण है, जो पाठकों के सम्मुख लेखक के मन तथा उसकी आत्मा का सच्चा रूप रखकर उनकी मनोवृत्तियों को उत्तेजना देता हुआ उनको अपने चातुर्य-चमत्कार के मनोरंजक प्रकाश से प्रसन्नता एवं उनकी जिज्ञासा की उत्कंठा को संतोष और शान्ति देता है।

साथ ही उनके साथ वार्तालाप का व्यवहार जारी करता है। उनके ज्ञानानुभव के साथ मिलकर उसमें वृद्धि करने का प्रयास करता है। उनकी भावनाओं एवं कल्पनाओं में जागृति या चैतन्यता लाता है तथा अपने प्रभावोत्कर्ष एवं प्रौढाकर्षण से उनपर प्रभावी होता हुआ उन्हें अपने पक्ष में लाने का उद्योग करता है। विषय की विवेचना तथा तद्विकास से उनकी विवेक-बुद्धि और निर्णायक शक्ति को संचालित करता है।

उच्च लेखों एवं निबंधों में तो इनके अतिरिक्त और भी अनेक उच्च गुण होते हैं, किन्तु उन सब का विवेचन या वर्णन करना हमारे उपस्थित विषय एवं अभिप्राय से वाह्य है, क्योंकि विद्यार्थियों के लिये वह दुर्बोध तथा जटिल होता हुआ कठिन प्रतीत होगा। उन्हें उसकी अभी आवश्यकता भी नहीं, उन्हें तो प्रारम्भिक रूप से ही मतलब है उसके बहुत भीतर पैठने तथा

खोज करने की कोई ज़रूरत नहीं हैं। जैसे जैसे वे अभ्यास करते हुये सत्संग एवं स्वाध्याय की सहायता से ज्ञानानुभव के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे वैसे ही वैसे उन्हें एतत्सम्बन्धी गम्भीर एवं गूढ़ विवेचना-पूर्ण बातें ज्ञात होती जायेंगी।

विद्यार्थियों को उचित है कि वे जब कभी लेख या निबंधादि लिखने के लिये चलें तभी निम्न बातों का ख़ूब ध्यान रक्खें, इनका विचार रखना अतीवावश्यक और अनिवार्य है। इनमें सफलता प्राप्त करने तथा इनको पूर्ति-स्फूर्ति करने के लिये वे अन्यान्य बातों की अवहेलना कर सकते हैं, परन्तु इन्हें वे कदापि नहीं छोड़ सकते, क्योंकि इनके न रहने पर लेख में वस्तुतः कुछ भी नहीं रह जाता।

(१) गृहीत विषय सम्बन्धी सामग्री-स्वानुभव या परानुभव से एकत्रित करो।

(२) आवश्यक और मुख्य २ बातें उसमें से छाँट या चुन लो, शेष छोड़ दो। उन सब को अपने उद्देश्य एवं अभिप्राय के आधार पर पृथक पृथक वर्गों में यथाक्रम विभक्त कर लो। अपनी रुचि के अनुसार ही विषयों को चुनो, और एक ढाँचा बना लो।

(३) अपने विचारों एवं भावों को स्पष्टता, यथार्थता, शुद्धता एवं मनोरञ्जकता के साथ व्यक्त करो।

(४) शब्द एवं वाक्य भावानुकूल रक्खो, उपयुक्त और शुद्ध शब्द चुनो। शब्द एवं वाक्य-सङ्गठन को निर्दोष तथा स्पष्ट रक्खो।

(५) भाषा तुम्हारी, सुन्दर परिष्कृत, साहित्योचित, मुहावरेदार और शुद्ध हो । वह सरल, सुबोध तथा प्रभाव-प्रतिभा-पूर्ण हो ।

(६) मुख्य बात पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुये उसी पर ज़ोर दो, उसका पूर्ण विकास करो, उसी को सर्वत्र पुष्ट करते रहो ।

(७) समस्त रचना में एकता, औचित्य, धारावाहिकता, लय, तथा लालित्य रहे । प्रत्येक अंश भावव्यंजकता से भरा-पूरा हो । कहीं भी संदिग्धता, अनिश्चितता, एवं अव्य-क्तता न हो ।

(८) सर्वत्र स्वाभाविकता, मौलिकता तथा कला-कुशलता की छाप लगी हो । विषयांगों का सानुपात विकास हो तथा सर्वत्र यौक्तिक क्रम बना रहे ।

(९) व्याकरण के नियमों का भी पूर्ण निर्वाह हो, साथ ही लौकिक प्रयोग का भी विशेष ध्यान रहे ।

(१०) लेख सर्वत्र उपयुक्त चिन्हों (विरामार्द्धविरामादि) से सजा रहे तथा अच्छे और सुन्दर स्पष्ट अक्षरों में लिखा हो ।

(११) यदि लेखन या रचना-कला के सुन्दर गुण न ला सको तो कम से कम उसके दुर्गुणों को ही न आने दो । प्रथम ही ख़ूब सोच-विचार कर लिखो जिससे त्रुटियों और दोषों की सम्भावना न रहे ।

(१२) "सूक्ष्म और विषयोचित" इस मूल मंत्र का ख़ूब ध्यान

रक्खो। बिना आवश्यकता के किसी बात की पुनरुक्ति या पुनरावृत्ति न करो, तथा जो कुछ लिखो उसे अपने को पाठक के रूप में रखकर एक बार पुनः पढ़ जाओ।

निबंध के विषय में टिप्पणियाँ

परिभाषाः—निबंध की परिभाषा पूर्ण रूप से निश्चित नहीं, विद्वानों ने अपने २ ढङ्ग की अलग अलग परिभाषायें दी हैंः—जैसेः—

"निबंध एक अनियमित और क्रमरहित रचना है जिसमें हृदय के उद्गार भरे हों"।

किसी विशेष विषय पर विस्तार पूर्वक लिखे हुये लेख का नाम निबंध है।

"विस्तृत और सम्बद्ध रचना ही निबंध है" "विवेचना के साथ भिन्न २ मतों पर विचार करते हुए कोई सिद्धान्त स्थिर करना निबंध लिखना है।" "निबंध उस लेख को कहना चाहिये जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तार पूर्वक पांडित्य-पूर्ण विचार किया गया हो"—इत्यादि।

यह कहा जा सकता है कि ये सब परिभाषायें उपयुक्त नहीं क्योंकि पाक्षिक तथा संकीर्णार्थ-सूचक हैं। ये सब स्पष्ट रूप से सूचित करती हैं कि निबंध का विषय व्याख्यात्मक अवश्य हो।

हमारी समझ में तो निबंध का व्यापक अर्थ लेख से ही लेना उचित है और हमने इसी अर्थ में इसे लिया भी है। हमने तो लेख को निबंध का परिवर्धित तथा गम्भीर रूप ही माना है और इसका प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया भी जाता है।

प्रायः सभी मानते हैं कि लेख :—

(१) स्पष्ट, सुबोध, तथा परिमार्जित हो।

(२) उसकी शैली सुन्दर, प्रभाव-पूर्ण तथा मनोरञ्जक हो।

(३) उसमें संक्षेप ही में बहुत सी उपयोगी, आवश्यक तथा ज्ञानानुभव-पूर्ण बातें बताई गई हों।

(४) वह रचना-कला के कौशल, चातुर्य, तथा चमत्कार से पूर्ण हो।

(५) उसका एक विशेष उद्देश्य हो, जिसका अच्छा विकास तथा निर्वाह किया गया हो।

(६) उसमें यौक्तिक क्रम, एकता, धारावाहिकता, और सुव्यवस्था रहे।

निबंध में शिष्ट वाक्यों का उल्लेख या उद्धरण

प्रत्येक निबँध का मौलिक होना अत्यावश्यक है, मौलिकता ही उसकी सच्ची कसौटी है, किन्तु इसके साथ ही साथ लेखक अपने मौलिक और स्वतन्त्र विचारों की पुष्टि के लिये, प्रमाण के रूप में अपना दूसरे विद्वानों के साथ विचार-साम्य

या भावसादृश्य प्रगट करने के लिये निम्न बातों का स्वछन्द रूप से प्रयोग कर सकता है । इससे उसकी मौलिकता में बाधा न पड़ेगी ।

(१) अपने विषय की परिभाषायें या उसके भिन्न २ अर्थ जो अन्य विद्वानों के द्वारा प्रगट किये गये हैं वह अपने लेख में दे सकता है और उन्हें कथन सूचक चिन्हों ("   " या '   ') के भीतर रखकर सूचित कर सकता है ।

(२) प्रमाण के रूप में वह किसी भी विद्वान की पुस्तक उसके लेख या निबन्ध से . उसके विचारों का उल्लेख कर सकता है ।

(३) अपने विषय को स्पष्ट करने के लिये वह साधारण एवँ प्रसिद्ध उदाहरणों या दृष्टान्तों का भी प्रयोग कर सकता है ।

(४) लोकोक्तियों तथा उपयुक्त कविता-कड़ियों को भी जो प्रख्यात कवियों के द्वारा व्यवहृत की या लिखी गई हैं अपने निबंध में आवश्यकतानुसार उपउक्त स्थानों पर दे सकता है ।

(५) यद्यपि किसी बात की पुनरुक्ति करना दोष है तथापि यदि ऐसा करने से उसकी बात प्रौढ़प्रभाव-पूर्ण तथा स्पष्ट हो जाती है तो वह उस पुनरुक्ति से लाभ उठा सकता है, औरदोष से भी बचा रह सकता है ।

(१) कथात्मक-निबंध

इसके अन्तर्गत उपन्यास; गल्प, आख्यान और आख्यायिकायें भी आती हैं। किन्तु यह सब कथा से अधिक बड़े, उन्नत और साहित्यिक रूप में होते हैं। इन्हें गद्य-काव्य के अन्तर्गत माना गया है और इनमें से प्रत्येक के लिये विशेष प्रकार के नियम रक्खे गये हैं। क्योंकि ये उच्च साहित्य की ओर झुकते हैं। इनकी विवेचना के लिये देखो हमारी "गद्य-काव्यालोक" नामी पुस्तक। विद्यार्थियों के अभ्यास के लिये केवल कथायें ही उपयुक्त होंगी, अभ्यस्त हो जाने पर वे इनकी ओर बढ़ सकते हैं। इनके लिये, विचारानुभव, ज्ञान तथा कल्पना की विकसित प्रौढ़ता की आवश्यकता है।

हमारे प्रारम्भिक विद्यार्थियों को प्रथम छोटी कहानियों के लिखने का अभ्यास करना चाहिये, तदनन्तर उन्हें कथायें उठानी चाहिये। कथाओं के अन्दर जीवनियाँ आती हैं।

हमारे निम्न ढाँचों तथा उनके विकासित करने के ढंगों का अनुकरण करना अच्छा होगा। कथात्मक निबंधों के सम्बन्ध में जो नियमादि हमने ऊपर दिये हैं उन्हें प्रथम मन में रख लेना चाहिये, इसके प्रथम कि किसी कथा के लिखने के लिये विद्यार्थी लोग अपनी लेखनियाँ उठावें।

कथाओं के ढाँचे

कथाओं को हम निम्न प्रकार के वर्गों में बाँट सकते हैं:—

पौराणिक कथा:—अपने पुराणों में अनेकानेक कथायें धर्म, चरित्र (सदाचार) तथा अन्य सिद्धान्तों को स्पष्ट करने, उनको प्रभाव पूर्ण बनाने और उदाहरण रूप देकर समझाने के लिये लिखी गई हैं। उन्हीं के आधार पर छोटी कथाओं को निबंध-रूप में लिखना पौराणिक कथायें लिखना है।

२. ऐतिहासिककथा:—इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं को कथा के रूप में लिखना ही इसका मूल उद्देश्य है। हाँ इसमें लेखक अपने उद्देश्य के अनुसार कुछ उपयुक्त परिवर्तन कर सकता है।

३ दृष्ट या श्रुतघटना:—किसी देखी या सुनी हुई घटना की कथा या कहानी कहना। ध्यान रहे कि यदि इसमें कुछ कल्पना का भाग तथा, रोचकता लाने वाला चातुर्य-चमत्कार न होगा तो यह केवल घटना-वर्णन ही ठहरेगा-जैसे समाचार पत्रों में होता है। इसके दो और रूप हो सकते हैं—१. आत्मघटना, २. पर घटना। प्रथम में लेखक अपने जीवन की किसी विशेष घटना की कथा कहता है, यह आप बीती कहानी है—दूसरी में दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली घटना दी जाती है यह परबीती या जगबीती

कहलाती हैं। किसी स्थान की दैवी घटना भी कही जाती है, यह दैवी घटना की कथा है। इन्हीं सब प्रकार की घटनाओं की कथायें दूसरों से सुनकर जब लेखक लिखता है तब यह श्रुत कथा होती है।

(४) **कल्पित (काल्पनिक) कथा** :—इसमें कल्पना का ही प्राधान्य रहता है, इसका आधार किसी एक विशेष घटना या बात पर हो सकता है परन्तु इसकी सारी अट्टालिका बनती कल्पना ही से है। यह सत्यता की सीमा के बाहर भी जाती है। हां कभी २ वह सत्य भी निकल जाती है। इसका उद्देश्य केवल कल्पना में कुतूहल तथा जागृति उत्पन्न करके मनोरंजन करना है। काल्पनिक कथायें भी दो प्रकार से कही जासकती हैं, (१) उनसे कुछ स्वाभाविकता तथा साम्भाव्यता का भाव झलकता रहें, (२) वे नितान्त कौतुक या कुतूहल पूर्ण ही रहें। आश्चर्य कारी बातें जो असम्भव भी हों दी जायें और उनकी एक गुथी हुई रहस्य मयी मालिका की मनोरमता से केवल मन बहलाव या मनोरंजन ही किया जावे।

(५) **दृष्टान्त कथा** :—किसी सिद्धान्त, या नीति-रीति के समझाने अथवा किसी लोक-प्रसिद्ध बात या लोकोक्ति को दृढीभूत करने के लिये हुए उदाहरण रूप में एक कहानी छोटे मोटे आकार प्रकार की गढ़ कर कह दी जावे। यहीं इस का मूल मन्तव्य है।

ध्यान रहे कि कहानियों में प्रत्येक विषय का कुछ न कुछ समावेश अवश्य ही किसी न किसी रूप में हो सकता है। लेखक के अभिप्राय पर ही इस की सारी रचना निर्भर रहती है।

मानवी लीलाओं या कार्यों (व्यापारों या घटनाओं) को पशुओं और पक्षियों तथा कभी कभी निर्जीव पदार्थों के भी साथ रखकर कहानी के रूप में दिखा सकते हैं। छोटे बच्चों के लिये ऐसी कहानियाँ बड़ी ही उपयुक्त ठहरती हैं।

बालकों को छोटी २ ऐसी कहानियाँ अपनी बड़ी बूढ़ी औरतों तथा बड़े बूढ़े लोगों से सुनने के लिये मिलती ही हैं। उन्हें परिमार्जित भाषा तथा संशोधित व्यवस्था के साथ लिखना अभ्यास के लिए अच्छा तथा उपयोगी होगा।

सुन्दर साहित्यिक रूप में कहानी या कथा (आख्यायिका) के लिखते समय निम्न बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

१—संक्षेप रूप में अच्छे ढङ्ग से कथा का उत्तम तथा उपयुक्त विकास और निर्वाह हो, उसमें रोचकता, और मनोरञ्जकता के साथ आवश्यक बातें दी जावें।

२—उसके उद्देश्य-साधन तथा फल में खूब मेल एवँ एकता रहे।

(३) एक बात या सिद्धान्त पर ही उद्देश्य का आधार रहे। वह स्पष्ट और सुबोध रहे। युक्ति पूर्वक उसका विकास करके अभीष्ट फल तक उसे यों पहुंचाया जावे कि लक्ष्य और फल दोनों मिल जावें।

(४) केवल आवश्यक बातें ही उठाकर अच्छे ढंग से प्रभाव या ओज के साथ पाठकों के मन में बैठाई जावें। क्रमानुसार सब बातें एक अभंग माला में गुथी सी रहें।

(५) किसी भी उद्देश्य से कहानी उठाई जावे, उसमें प्रभाव तथा कला के साथ कुतूहल-पूर्ण मनोरञ्जकता अवश्य रहे।

रसों का समावेश :—काथाओं या कहानियों में घटनाओं के द्वारा तथा उसकी स्थापना आदि की सहायता से प्रायः सभी रसों की जागृति की जा सकती है। उद्देश्य एवं रुचि के अनुसार प्रत्येक विषय के क्षेत्र से कथायें ली जा सकती है।

साधारणतया यह देखा जाता है कि कहानियों के लिये उद्देश्यानुसार सभी रस अच्छे होते हैं, तौभी प्रायः हास्य, अद्भुत, शृंगार, तथा करुणा का अधिक समावेश किया जाता है। कभी २ भयानक का भी संचार होता है परन्तु और रस प्रायः कम आते हैं या यदि आते भी हैं तो सहयोगी या सहकारी रूप में।

ऐतिहासिक कहानियों में कभी २ रौद्र और वीर रस भी युद्ध के दृश्य में आ जाते हैं। जीवनियों तथा चरित्रों में घटनाओं के अनुकूल भिन्न २ रसों का प्रयोग किया जाता है, साथही उनसे आदर्शों तथा उपदेशों के भी चित्र खींचे जा सकते एवं जाते हैं।

ध्यान रहे कि कथाओं में पात्रों की दशाओं तथा घटनाओं के द्वारा रसोद्रेक किया जाता है किन्तु वर्णनात्मक विषयों में दृश्यों तथा पदार्थ-परिस्थितियों के द्वारा रसोद्रेक की सूचना दी जाती है। क्योंकि एक में घटनाओं का तथा दूसरे में दृश्यों का प्राधान्य रहता है।

ढाँचों के नमूने

१. बालक ध्रुव की कथा

(पौराणिक)

१. प्राचीन भारत—सतयुग।
२. ध्रुव और उनके पिता का परिचय।
३. ध्रुव का पिता के द्वारा अपमानित होना।
४. ध्रुव को माता का उपदेश।
५. ध्रुव की भगवद्भक्ति और ईश-दर्शन। ६. शिक्षा।

२. मौर्यविजयः—ऐतिहासिक-कथा

१. भारत का मध्यकाल।
२. पाटलीपुत्र-राज्य।
३. चन्द्रगुप्त का राज्यकाल, प्रबंध, परिचय।
४. सल्यूकस से युद्ध, और सल्यूकस की हार।
५. चन्द्रगुप्त—विवाह।

अभागे का भाग्य

श्रुत
- **१. स्थापना**—परिचय, ग्राम, नामादि।
- **२. घटना**—१. माता-पिता का स्वर्गवास।
  - २. अनाथ बालक का विद्यार्थी जीवन।
  - ३. सफलता।
- **३. परिणाम**—१. बालक का उत्थान।
  - २. परिश्रम, साहस और दृढ़ता ही सफलता देती है।

नोटः—इसी प्रकार दृष्ट घटना की भी कथा कही जा सकती है, उसका भी इसी हीं प्रकार ढाँचा बनाना चाहिये। ध्यान रहे कि इस प्रकार की घटनाओं के साथ अन्त में उनके परिणामों पर कुछ न कुछ अवश्य प्रकाश डालना चाहिये, तथा कुछ अनुभव प्राप्त करने योग्य बात निकालनी चाहिये।

यहां यह भी कह देना अनुचित न होगा कि घटनायें मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं (१) दैविक (क)—व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली (ख)—देश या सारी जनता से सम्बन्ध रखने वाली। (२) मानवीय जो मानवकृत कार्यों या कारणों से उत्पन्न होती हैं।

घटनाओं को देते समय उनके कारणों पर भी एक दृष्टि फेंक देना अच्छा तथा उपयुक्त होता है।

१. **दैवी, व्यक्ति सम्बन्धी:**—जैसे किसी पर बिजली का गिराना।

दैवी, देश सम्बन्धी:—किसी ग्राम, नगर या प्रान्त में भूकंप आना या हैजे आदि का भीषण प्रकोप होना।

२. **मानवीय:**—मनुष्यों के द्वारा उत्पन्न की गई घटनायें। युद्धादि।

इनमें यथाक्रमता, सत्यता तथा स्पष्टता अवश्य रहनी चाहिये। कल्पना का कौतुक इनमें अभीष्ट नहीं होता।

कल्पित-कथा

बालकों ने इस प्रकार की अनेकों कहानियाँ सुनी तथा पढ़ी होंगी। अतः हम इन्हें छोड़ रहे हैं। विद्यार्थियों को चाहिये कि उन्हीं का अनुकरण करें और अपनी ओर से पढ़ी या सुनी हुई कथाओं को लिखें, अभ्यास हो जाने पर अपनी कल्पना के द्वारा भी वैसी ही कथायें लिखें।

उदाहरणार्थ हम एक छोटी सी कहानी का ढाँचा यहाँ दिये देते हैं।

१. **स्थापना:**—स्थान एवं समयादि।

२. **घटनायें:**—मुख्य २ तथा कौतूहल पूर्ण बातें।

३. **अन्त:**—परिणाम तथा अभीष्ट बात।

१. साधु और तोता

१—साधू बन में एक तोता पाले रहता था।

—तोता एक अमृत फल लाया।

३—साधू ने राजा को दिया।

४—राजा ने रानी को तथा रानी ने उसे बो दिया।

५—वह जमा, फूला फला।

६—उसका फल खाकर कुत्ता मर गया।

७—राजा के उपालम्भ से साधू ने क्रोध में आ तोते का मार डाला, फिर पश्चाताप किया।

दृष्टान्त-कथा

लेना एक न देना दो

१—कल्पित स्थापना।

२— ,, घटनायें।

३—परिणाम—इसमें अपना उद्देश्य तथा अभीष्ट सिद्धान्त अवश्य स्पष्ट दिखा देना चाहिये।

नोट:—प्रायः सदुपदेशों को स्पष्ट तथा सुबोध बनाने के के लिये ऐसी कथायें गढ़ ली जाती हैं—और केवल उदाहरणों का काम देती है। इनमें सत्यता की मात्रा नहीं देखी जाती किन्तु योक्तिक क्रम, सिद्धान्त परिपोषकता तथा चातुर्य-चमत्कार पूर्ण कल्पना का कौतुक अवश्य होता है। यह भी

कल्पित घटनाओं या कथाओं के अन्दर आ जाती हैं। जैसे "हिम्मत मर्दा-मदद खुदा" के स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त के रूप में "सियार और सिंह" की कथा दे दी जाती है।

ध्यान रहे कि इन कथाओं का अन्तिम भाग ही जिसमें लेखक अपने अभीष्टउद्देश्य को खोलता है बहुत आवश्यक अनिवार्य तथा अवलोकनीय होता है। उसी के लिये इसका सारा महल बनाया जाता है।

शिक्षकों के लिए

शिक्षकों को चाहिये कि वे विद्यार्थियों को प्रथम किसी कहानी की मुख्य मुख्य बातें बता दें, फिर उन्हें छोटा करके श्याम-पट पर पृथक लिख दें और उनसे उन्हें बढ़ाकर लिखने के लिये कहें:—जैसे

तोते की कहानी

१—व्योपारी का तोता।

२—व्योपारी बंगाल गया।

३—जंगल में उसने तोते का संदेश, और तोतों से कहा।

४—उसे सुन एक तोता मुर्दा होकर गिर पड़ा।

५—व्योपारी ने घर आकर सब हाल तोते से कहा।

६—उसका तोता भी सुनकर मर सा गया।

७—व्योपारी के हाथ से छूटकर तोता उड़ गया।

साथ ही कभी कभी श्याम पट पर वह एक कहानी लिखें और उसके बीच बीच के कुछ भाग उड़ा दें। फिर उन्हीं की पूर्ति करने के लिये विद्यार्थियों से कहें। इन साधनों तथा अन्याय और उपयुक्त साधनों (पुनरुक्ति या फिर से सुनी या पढ़ी बात को अपनी भाषा में कहना या लिखना, उसे बढ़ाना, और कई वाक्यों या बातों को क्रम से मिलाना) के द्वारा बालकों की लेखन शक्ति बढ़ानी चाहिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—अपनी देखी हुई कोई एक घटना लिखो।

२—तुमने अपने माता पिता या और किसी आदमी से जो घटना सुनी हो उसे लिखो।

३—कोई एक छोटी सी कहानी लिखो।

४—सीता जी को रावण कैसे चुरा ले गया था, इसे कहानी की तरह लिखो।

५—अपनी तरफ से एक छोटी सी कहानी बनाओ।

६—एक कहानी ऐसी लिखो जिससे यह सिद्ध हो कि सच बोलना अच्छा है।

ध्यान रहे कि ऐसी छोटी छोटी कहानियाँ छोटी कक्षाओं के ही लिये होनी चाहिये। हाँ इन्हीं को परिमार्जित तथा कलापूर्ण करके एक अच्छा लेखक भी लिख सकता है। जीवन-गाथा (जीवनी या जीवन-चरित्र) भी कहानी या कथा के अन्तर्गत

आती है,उसके लिये हम कुछ साधारण नियम दे चुके हैं। दृष्टान्त तथा काल्पनिक कथायें ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों से ही लिखानी चाहिये क्योंकि इनके लिये अधिक विकसित मन-मस्तिष्क तथा स्वाध्याय, सत्संग और अनुभवज्ञान की आवश्यकता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक कथाओं के सम्बन्ध में भी हमारा कहना है कि वे उन्हीं कक्षाओं के विद्यार्थियों से लिखाई जायें जिन कक्षाओं में इतिहास पढ़ाया जाता है।

× × ×

यह भी विचार में रखने की बात है कि इन्हें साहित्यक रूप देने के लिये लेखक को उचित है कि वह भाषा, शैली तथा कला कौशल का विशेष ध्यान रक्खे। भाषा प्रौढ़, परिमार्जित, चित्रोपम, तथा मुहावरेदार हो। शैली में चमत्कार और चातुरी रहे, सादृश्यमूलक तथा चित्रोपम अलंकारों जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि का सुन्दर प्रयोग किया जावे।

जीवन गाथा:—पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय।

१—जन्म-स्थान, समय, वंश-परिचय।

२—बाल्यकाल—विद्योपार्जन।

२—युवाकाल—मुख्य मुख्य कार्य, जीवन प्रगति, कार्य क्षेत्र, चरित्र।

४—प्रौढ़ काल—सिद्धान्त, नीति, जीवन में स्थान—

५—जीवन से शिक्षायें।

महात्मा तुलसीदास

१—जन्मस्थान, समय और वंश-परिचय। २—बाल्यकाल।

३—जीवन प्रगतिः—चरित्र, मुख्य २ कार्य

४—अन्त कालः—मरण-स्थान, समय और दशा, अवस्था आदि

५—जीवन से मार्मिक निष्कर्षः—भक्त, सिद्ध

निर्मित ग्रंथ—काव्य-कुशलता—सिद्धान्त

नोटः—विद्यार्थियों को उचित है कि इस प्रकार की जीवनियों को प्रथम ध्यान पूर्वक पढ़ें और उनकी मुख्य २ बातें लेकर अपने पास रखलें, फिर उन्हीं को अपनी भाषा में प्रकाशित करें।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. महात्मा तिलक या गोखले की जीवनी लिखो।

२. कविवर सूरदास का हाल लिखो।

३. अपने विद्यार्थी-जीवन का वृत्तान्त लिखो।

४. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की जीवन-गाथा लिखो।

५. महादेव गोविन्द रानाड़े का हाल लिखो।

अध्यापकों को उचित है कि वे इस प्रकार की जीवनियों को बालकों के सम्मुख अवश्य रक्खा करें और उनसे मुख्य २ बातें या घटनायें छाँटकर उन्हें ख़ूब समझा दिया करें। साथ ही उन जीवनियों से जो २ मुख्योपदेश मिलते हैं उन पर भी अच्छा प्रकाश डाल दिया करें।

(२) वर्णनात्मक निबंध

वक्तव्य:—हमें यहाँ पर वर्णनात्मक निबंधों के विषय में कुछ विशेष नहीं कहना, क्योंकि इनके सम्बन्ध में हम जो कुछ प्रथम कह चुके हैं वही पूर्णतः पर्याप्त है। उसे ख़ूब समझ कर विद्यार्थियों को वर्णन करने में अभ्यास करने की आवश्यकता है। उन्हें चाहिये कि वे प्रथम यहाँ पर नमूने के तौर पर दिये हुये विषयों से पूर्ण परिचय प्राप्त कर लें, तथा ढाँचा बनाने का अनुकरण करें, फिर हमारे ढाँचों के आधार पर वर्णन का विकास करें तथा हमारे दिये हुये मुख्य २ भावों या विचारों को बढावें।

अपने अध्यापकों से भी उन्हें सहायता लेना अत्यावश्यक है। जो प्रश्न अंत में दे दिये गये हैं उन पर अपनी ओर से विचार करके, उनके ढाँचे बनावें और फिर उन्हीं के आधार पर अपना निबंध पूरा करें।

वर्णन करने में निम्न बातें कभी न भूलो :—

१. अपने दृष्टि-कोण, तथा अपने अभिप्राय को।
२. ऐसा विवरण दो कि वह सत्य, स्वाभाविक, तथा सजीव होता हुआ वर्णित वस्तु का चित्र खींच कर सामने खड़ा कर दे।
३. भाषा, सरल, स्पष्ट, निर्दोष तथा चमत्कार-पूर्ण होकर मनोरंजक हो।

४. तुम्हारी शैली, रोचक, उत्कंठा एवं लालसा को उत्तेजित करने वाली, कल्पना एवं स्मृति में जागृति लानेवाली, यथाक्रमता तथा धारावाहिकता से पूर्ण हो।

५. विषय की सभी विशेष विशेष बातों का विवरण, साधारण बातों को सूचित करता हुआ, स्पष्ट रहे।

वर्णनात्मक विषयों के मानचित्र

नोटः—हम प्रथम ही बता चुके हैं कि वर्णनात्मक विषयों को हम साधारण रूप से निम्न प्रकार विभक्त करके वर्गों में रख सकते हैंः—

१—साधारणः—

क—वस्तु या पदार्थः—

१—उद्भिजः—मटर, गेहूँ आदि २—खानिज—सोना, लोहा नमक आदि, ३—मिश्रित—यंत्र, वस्त्राभूषणादि

ख—पशु-पक्षी— १—पालतू २—वन्य

२—विशेष, ग—स्थानादिः—गाँव, नगर-तीर्थ—(प्राचीन व. नवीन) इमारतें—पुस्तकालय, स्कूल, मंदिर, महल, क़िला, पार्क

घ—समय प्राकृतिक | १—साधारणः—संध्या, प्रातः, निशा
२—विशेषः—ग्रहण, आँधी
३—ऋतुः—वर्षा, शरद, वसंत

कृत्रिम—त्योहार, उत्सव, मेला, ङ—यात्रा :—स्वदेश में—
—विदेश में—स्थल पर—जल पर—कल्पित

च—दृश्यः—१—प्राकृतिकः—वन, पर्वत, नदी, संगम सागर, भील।

२—कृत्रिमः—१. वाटिका, बाग़, (उपवन) २. नाट्यशाला,

अध्यापकों को उचित है कि वे बालकों की योग्यता, उनके अनुभव-ज्ञान की प्रौढ़ता एवं सीमा को देखकर उन्हें इनमें से उपयुक्त विषय वर्णन करने के लिये दें। निम्न श्रेणी के विद्यार्थियों को साधारण विषय और उच्च कक्षाओं के बालकों को विशेष विषय देना ठीक होगा।

विस्तार-भय से हम यहाँ केवल चुने हुये कुछ ही विषय दिखावेंगे। विद्यार्थी उनके नमूने देख लें और फिर अनुकरण-साहाय्य से अभ्यास करें—तत्पश्चात अपने अध्यापकों से सहायता लें और भिन्न२ अन्य विषयों के वर्णन लिखें, हाँ वर्णन तथा ढाँचे बनाने के नियम जो संक्षेप में साधारण रूप से हमने दिये हैं सदैव अपने मन में रक्खे रहें।

वर्णन में रस-प्रवेश

वर्णन में प्रायः चित्र खींचने का काम विशेष रूप से किया जाता है, हाँ कभी २ सुन्दर दृश्यों के साथ सुन्दर, भयानक या अद्भुत दृश्यों के साथ भयानक और अद्भुतादि रसों की भी जागृति कराई जाती है।

ऐतिहासिक स्थानों के वर्णन में कभी २ उनकी अनुकूलता को देखकर उनके उपयुक्त स्मृति में उत्तेजना डाल, करुणा, शोक एवं पश्चाताप आदि की भावनायें (मनोविकार) भी उठाई जाती हैं, परन्तु बहुत गुप्त और सूक्ष्म ढंग के साथ।

वस्तु एवं पदार्थादि के वर्णनों में तो साधारणतः रसों का समावेश नहीं किया जाता।

ध्यान रहे कि यह सब बातें लेखक के उद्देश्य तथा उसकी रुचि पर ही सब प्रकार निर्भर हैं, वह जैसा चाहे लिख सकता है।

वर्णनात्मक-ढाँचे

साधारण-विषय

१—चना

१—रूप, रंग, आकार-प्रकार।

२—कैसे उत्पन्न होता है, कहाँ और कब बोया जाता है:—

(क)—१—कातिक, आगहन में बोते हैं। २—बहुत पानी नहीं चाहता, आदि में थोड़ा और बीच में थोड़ा। ३—खूब जुता हुआ, डेलेदार खेत। ४—प्रथम सर्दी फिर गरमी चाहता है।

३—इसका उपयोग—सब रूप में सब प्रकार खाया जाता है।

१—साग के रूप में, कच्चा, पक्का दोनों प्रकार से। २—कच्चे दानों के रूप में—कच्चा और पकाकर। ३—प्रौढ़ होने पर भूनकर, होरा के रूप में। ४—पकने पर।

१—कच्चा भिगोकर। २—पक्का कर (उबालकर) ३—भूनकर (भाड़ में)। ४—पीसकर—पकाकर। ५—घी या तेल में तल कर। ६—मिठाई के रूप में।

४—कहाँ अधिक पैदा होता है—काटना, माड़ना आदि।

५—लाभ-हानि—बलकारक हैं।

२—लोहा

१—रूप, रंग। २—उत्पत्तिः—१—खान से खोदकर। ३—संस्कार:—लोहा साफ़ होकर फौलाद होता है। ४—देश जहाँ निकलता है। ५—उपयोग—यंत्र, अस्त्र, शस्त्रादि में। ६—लाभ—जीवन का एक प्रधान साधन है।

३—मुद्रण यंत्र

१—क्या है—रूप, आकार-प्रकार। २—किस प्रकार चलता है। ३—कहाँ व किस चीज़ से बनता है। ४—इसके भाग। ५—टाइप या अक्षरादि। ६—इतिहास:—१—प्राचीन और आधुनिक।

४—गाय

१—रूप-रंग, आकार-प्रकार। २—गुण, कर्म, स्वभाव। ३—उपयोग:—४—लाभ।

५—मोर

१—रूप, रंग, आकार, प्रकार। २—गुण, कर्म, स्वभाव। ३—लाभ।

६—भेड़िया

१—रूप-रंग, आकार-प्रकार। २—गुण, कर्म, स्वभाव। ३—लाभ, हानि।

विशेष विषय—स्थानादि

१—नगर प्रयाग

१—परिचय—१—प्रान्त की राजधानी। २—गंगा-यमुना के संगम पर। ३—लम्बाई चौड़ाई, विस्तार।

२—मुख्य २ स्थानः—१—रेलों का केन्द्र । २—हाई कोर्ट । ३—विश्वविद्यालय । ४—अशोक का क़िला । अशोक की लाट । ५—खुसरो बाग़ । ६—कम्पनी बाग़ । ७—मिन्टो पार्क । ८—भरद्वाज आश्रम । ९—प्रेस ।

३—पत्र-पत्रिकाओं का केन्द्र (साहित्य का)—हिन्दी साहित्य-सम्मेलनादि ।

४—इतिहास—१—तीर्थ स्थान । अकबर का केन्द्र ।

५—व्योपारः—नैनी-मिल, दो एक और छोटे मिल ।

२—ग्राम

१—आकार, प्रकार । २—प्राकृतिक, दृश्य । ३—स्वभाविक, साधारण दशा । ४—जलवायु । ५—उत्पत्ति के कारण । ६—ग्राम्य-जीवन और उसके लाभ, हानि ।

३—पुस्तकालय

१—अर्थ या परिभाषा । २—व्यवस्था-विधान । क, पुस्तकों के लिये, ख, पाठकों के लिये । ३—उपयोग और लाभ, उदाहरण ।

४—प्रातः काल

समय :—४ बजे से ७ बजे तक, प्राकृतिक-दशा ।

१—शान्ति । २—सूर्योदय-सौंदर्य । ३—पुष्पादि-विकास । ४—पक्षीगण-गान । ५—सुन्दर स्वच्छ वायु ।

लाभ—१—आरोग्य कारी । २—प्रमोदकारी ।

५—वर्षा

समय—आषाढादि—कारण—व प्राकृतिक दृश्य, लाभ—धान्योत्पत्ति आदि।

६—त्योहार-दशहरा

समयः—कार्तिक विजया १० मी, कारणः—प्रकार—कैसे मनाते हैं-रामलोला आदि, लाभ—मेला

७—यात्रा

रेल से—स्वदेश में :—

१—दृश्य—विविध, वन, गाँव, नगर। २—अनुभव-ज्ञान। ३—उद्देश्य। ४—लाभ।

८—दृश्य-(क)-पहाड़ी नदी

१—पहाड़ का दृश्य, पता। २—नदी का दृश्य, गति, उद्गम, पानी। ३—जलवायु।

(ख)-वाटिका

१—स्थान, २—दृश्यः—पुष्पों की क्यारियाँ, वृक्षों की क़तारें। २—सुन्दर, सुगंधित वायु। ३—पक्षी-कल गान। ४—हरित भूमि। ५—फौव्वारा। ६—मंदिर।

——:o:o:——

अभ्यास

निम्नांकित विषयों के वर्णनात्मक ढाँचे बनाओ :—

१—हाथी। २—कुत्ता। ३—घोड़ा। ४—भेंड़। १—तोता। २—कोयल। ३—कौआ। ४—कबूतर। १—धान। २—नमक ३—काग़ज़। ४—गेहूँ। ५—कपास। ६—चाँदी (रुपया)। १—चन्द्रोदय। २—संध्या-तारे। ३—वसंत। ५—होली या दिवाली। १—पुस्तक, यात्रा। २—नाव की सवारी। ३—मंदिर। ४—वन का दृश्य। ५—नदी। ६—नगर का बाज़ार। ७—रेल का स्टेशन। ८—नट का खेल। ९—डाक घर। १०—अस्पताल। ११—पाठशाला। १२—कोई मेला। १३—बन्दर। १४—रीछ।

निम्न विषयों का वर्णन लिखो :—

१—कबड्डी या क्रिकेट का खेल। २—कोई बाजा (सितार आदि)। ३—अपना ग्राम। ४—कोई उपवन। ५—ग्रीष्म काल। ६—तम्बाकू (पान)। ७—मूली। ८—सरसों या अरहर। ९—गन्ना, शक्कर। १०—ऊँट, बकरी। ११—सियार, लोमड़ी। १२—बतक। १३—मछली। १४—साँप। १५—कोई तीर्थ स्थान। १६—समाचार पत्र। १७—सोनार की दूकान। १८—बजाज़। १९—घड़ी। २०—छाता या छड़ी। २१—इक्का। २२—किसान और बैल। २३—कोई बाग़। २४—मिट्टी का तेल, दिया सलाई। २५—कोई उत्सव (विवाह)।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—निम्नांकित विषयों के ढाँचे बनाओ:—

१—कुत्ता। २—कोयल। ३—बकरी। १—चन्द्रमा। २—रुई। ३—नाला। ४—चाँदी। १—कोई मन्दिर। २—संध्या में घूमना। ३—कोई नगर या तीर्थ। ४—कोई सुन्दर स्थान। १—दशहरा। २—मेला। ३—तमाशा (उत्सव) ४—वर्षा (इन्द्रधनुष)। ५—यात्रा। १—कोई घटना (देखी या सुनी हुई)। २—छुट्टी का दिन। ३—किसी आदर्श व्यक्ति की जीवनी। ४—कोई सुन्दर दृश्य (प्राकृतिक)। ५—अपना बाल्य-काल।

—o—

व्याख्यात्मक-निबंधों के मानचित्र

वक्तव्य:—हमने व्याख्यात्मक निबन्धों के विषय में आवश्यक बातें प्रथम ही संक्षेप रूप से दे दी हैं, तथा तत्सम्बन्धी उपयोगी एवं उपयुक्त नियम भी बता दिये हैं, अब यहाँ हम उदाहरणार्थ कुछ विषयों पर सूक्ष्म किन्तु पथ-प्रदर्शक प्रकाश डाल विद्यार्थियों से अनुरोध करते हैं कि वे इनका अनुकरण करें तथा इन्हीं के आधार पर अन्यान्य विषयों की भी व्याख्या करें। नीचे हम कुछ ढाँचे या मानचित्र दे रहे हैं, क्योंकि निबंध लिखने के पूर्व इनका बना लेना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है, क्योंकि इनके द्वारा विषय सम्बन्धी विचारों की व्यवस्था एवं

तद्विवेचन में योक्तिकक्रम, एकता के साथ आ जावेगा, और विषय का विभाग होकर सरलता एवं स्पष्टता भी आ जावेगी। विचार-धारा एक सुन्दर सुव्यवस्थित विधान के साथ प्रवाहित हो सकेगी तथा वह सुबोध और सीधी बन जायगी।

शिक्षकों को उचित है कि वे इस प्रकार के विचार-वर्गीकरण प्रथम अपने विद्यार्थियों को ख़ूब समझाकर हृदयङ्गम करा दें, तथा प्रथम उन्हें इसी प्रकार के ढाँचोंके बनाने का अभ्यास करावें। एतदर्थ हमने स्फुट प्रश्न भी दे दिये हैं। प्रथम तो यही अभीष्ट होगा कि विद्यार्थी इन्हीं विषयों पर इनका मनन कर चुकने पर अपने २ ढाँचे इनका अनुकरण करते हुये बनावें। क्योंकि प्रत्येक विषय कई प्रकार से लिखा जा सकता है, उसकी शैली लेखक के उद्देश्य एवं उसकी योग्यता पर निर्भर है—जैसा हम प्रथम ही दिखला चुके हैं। यहाँ हमने केवल साधारण दृष्टि से एक व्यापक उद्देश्य लेते हुये प्रत्येक विषय उठाया है और तदनुकूल उसका आंगिक विश्लेषण एवं संयोजन दिखलाया है।

—o—

१—सच्चरित्रता

क—१. चरित्र एवं सच्चरित्र का अर्थ, उद्देश्य एवं तत्प्राधान्य

भूमिका

ख—मन, वचन तथा कर्म से समुत्पन्न इच्छा-प्रेरित कर्मों से बनी हुई जीवन-प्रगति के यथार्थ रूप को चरित्र कहते हैं।

ग—सत्य, शुद्ध और सुन्दर चरित्र ही सच्चरित्र है। स—लौकिक तथा पार लौकिक, या आध्यात्मिक अभ्युदयानन्द की प्राप्ति ही इसका उद्देश्य है। द—यही जीवन का सार तथा देखने योग्य तत्व है। इसी पर समस्त संसार की पहिले दृष्टि पड़ती है। यही सर्वाभीष्ट साधन है।

कलेवर—

घ—२. सच्चरित्र के तत्व, कर्तव्य एवं गुण। अ—मन वचन, एवं कर्म में, सत्यता, शुद्धता, तथा स्वाभाविक सुन्दरता हो। ब—सद्गुणों, तथा सत्कर्तव्यों में पूर्ण प्रवृत्ति, दुर्गुणों तथा दुष्कर्मों से नितान्त निवृत्ति,— यह सब सत्संग, ज्ञान (पुस्तकावलोकन या स्वाध्याय) तथा अनुभव से साध्य है। स—शारीरिक, मानसिक, तथा लौकिक समृद्धि एवं उन्नति देता है। यही जीवन का सार या मूलोद्देश्य है।

फल या निर्णय—

ङ—३. परिणामः—अ—लाभ—१—आत्म-विकास। २—समाज को लाभ। ३—भावी संतति को लाभ। ब—उदाहरणः—

१—कृष्ण, राम, वसिष्ठ, द्रोण। २—मदनमोहन मालवीय, गांधीजी।

स—शाब्द प्रमाण—१—कवि-कथित। २—शिष्टोपदेश वाक्य।

२—वस्त्र या परिधान

भूमिका—

१—वस्त्र की परिभाषा—आवश्यकता, निर्माण—

क—शरीर को शीतोष्ण जलवायु के हानिकारी परिणामों से

रक्षित रखने वाले रुई, ऊन, तथा रेशमादि से निर्मित पदार्थों को वस्त्र कहते हैं। ख—१—शरीर-रक्षा के लिये। २—सभ्यता तथा समाज की स्थिति के लिये। ३—शृंगार-सौंदर्य के लिये। पदार्थ—ग—१—सूत या रुई से। २—ऊन या चर्म से। ३—रेशम या कौशेय से (सन आदि से भी) कर्ता १—जुलाहों के हाथों से। २—यंत्रों से। ३—दर्जियों से सिलकर। घ—वस्त्र-भेद—१—जीवनार्थ आवश्यक। २—शान शौकत वाले।

कलेवर—

२—वस्त्र विवेचनाः—अ—शरीर और मन से वस्त्र का सम्बन्ध १—स्वच्छ वस्त्र शरीर और मन को स्वच्छ रखते हैं, गन्दे वस्त्र गन्दा या दूषित तथा रुग्ण करते हैं। २—मन की रुचि, प्रवृत्ति, चरित्र के सूचक हैं। ३—उत्तम वस्त्र प्रसन्नता, स्फूर्ति तथा उत्साह-पूर्ण ओज देते हैं, बुरे वस्त्र, मलिनता, उदासीनता, दीनता, निरुत्साह एवं दौर्बल्य देते हैं। ब—समाज, सभ्यता एवं वस्त्रों का सम्बन्ध १—सामाजिक विकास तथा सभ्यतोत्कर्ष के परिचायक हैं २—अपने तथा अपनी समाज के गौरवादि के सूचक हैं। ३—सद्विचारों के उत्पादक, आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक हैं। ४—चित्र-कला से इनका सम्बन्ध।

फल—

अ—वस्त्रों के सम्बन्ध में:—१—आयुर्वेद का मत। २—विज्ञान का मत। ३—सदाचार शास्त्र का मत। ब—देश काल से वस्त्र भेदः व परिवर्तन— १—भारत के प्राचीन वस्त्र। २—आधुनिक वस्त्र

(पाश्चात्य प्रभाव)। स—निर्णयः— १—उत्तम स्वच्छ वस्त्र पहनो।
२—विशेषावसरों पर मान-मर्यादा के सूचक वस्त्र पहनो।
३—प्रवृति के अनुकूल वस्त्र लो। ४—समाज, सभ्यता के सूचक
वस्त्र लो।

३--सद्व्यवहार

भूमिका—

क—अर्थ, उद्देश्य, और कारण। १—अपनी समाज तथा अपने देशादि के प्रत्येक व्यक्ति से भलमनसाहत का वर्ताव करना।

क—अपने वंश जाति एवं समाज के लोगों के साथ। ख—अपने पुरजनों व पड़ोसियों के साथ। ग—अभ्यागतों के साथ। घ—अन्य प्रान्तीयों या देशीयों के साथ।

२—क, मानव-समाज की लौकिक प्रगित को सरल तथा सुचारु बनाना। ख-पारस्परिक, प्रीति-प्रतीत को दृढ़ी भूत करना। ग-संगठनात्मक सम्बन्ध-सूत्र को बढ़ाना।

३—सुन्दर प्रकृति, सद्विचार, सद्भावना तथा नम्रता से इस की उत्पत्ति।

कलेवर—

ख—१—समाज की माँग है और सभ्यता का सूचक है। २—जीवन-निर्वाह का सुन्दर साधन है। ३—लाभ। अ—अपने को। ब—दूसरों को। स—समाज को। द—सन्तति को।

ग—परिणामः—१—सारांश। २—उदाहरण।

३—प्रमाणः—क—कविवाक्य। ख—अन्योपदेश।

४--पुस्तक

अ—१—**अर्थः**—लेखनी के द्वारा मानसिक विचारों का भाषा में लिखा हुआ अनुवाद इसका मूल आधार है।

२—**उद्देश्यः**—क,ज्ञानानुभव की रक्षा। ख—तत्प्रचार-विस्तार। ग—साहित्य निर्माण। घ—भावी संतति के लिये सहायता।

३—**उत्पत्तिः**—१—मानसिक भावों से।२—ज्ञानानुभव से। ३—सामाजिक आवश्यकता है।

४—**आकार-प्रकार**-अ, विषयानुसार, भेद(भूगोल,काव्य-पुस्तकें) ब—भाषानुसार। १—प्राचीन,मध्य, वर्तमान में इनके रूप।

आवश्यक-सामग्री—क—लेखनी, पत्र, मसि।
ख—लेखक के विचार।

५—**उपयोगः**—पुस्तकें समझ कर पढ़ना, उनपर मनन व चिंतन करना चाहिये।

ज्ञान वृद्धि के लिये—अनुभव के लिये—धनोपार्जन के लिये। मनोविनोद,आत्मानंद के लिये, पुस्तकें पढ़ते समय उन पर चिन्ह लगाना।

लाभ,हानि—रखना. उठाना तथा लेना देना।

६—**पुस्तक-चयनः**—१—रुचि के अनुसार। २—उद्देश्याभिप्राय के अनुसार।

७—**अवसानः**—प्रमाणोपदेश।

५. परिभ्रमण या यात्रा

क—यात्रा की उत्पत्ति एवं उद्देश्य

स्थलयात्रा—

१—जिज्ञासा एवं अवलोकनाभिलाषा-तीर्थ दर्शन, २—अनुभव ३—खोज—ऐतिहासिक स्थान,४—स्वार्थ कार्य—(अ)—व्योपार, (ब)—शिक्षार्थ (स)—स्वास्थार्थ-जल-वायु, (द)—नौकरी में, (इ)—सामाजिक व पारवारिक कार्यार्थ ।

ख—यात्रा-साधनः—१ प्राचीनः—गाड़ी बैल, रथ, पैदल, पालकी, घोड़ा, हाथी, ऊँट ।

प्राचीनातिप्राचीन काल मेंः— १—खगवाहन, २—वायुयान, उड़नखटोला ।

स्थलयात्रा—

२—मध्य काल में :—उक्त तथा वाष्प यान या वाइसिकल ।

३—वर्तमान काल में :—उपर्युक्त सभी विकसित दशा में तथा नये मोटर, रेल, ट्राम वायुयानादि ।

जलयात्रा—

प्राचीन काल में नाव मध्य काल में जहाज, वर्तमानकाल में सब विकसित दशा में ।

लाभ, हानि—

(ग) १ स्वास्थ्य लाभ, शारीरिक , २ ज्ञानानुभव-वृद्धि, मानसिक ३ सम्पर्क या सम्बन्ध-विस्तार, लौकिक ४ सभ्यता पर प्रभाव ।

(घ) प्राचीन काल से आज तक यात्रा की परिपाटी और निष्कर्ष ।

६—सुशिक्षा

प्रारम्भ—

अ १ शिक्षा का अर्थः—ज्ञानानुभवोपार्जन, चरित्र निर्माण।

२ उद्देश्यः—१ जीवन के उद्देश्य से सम्बन्ध २ सत्य, ज्ञान और आनंद की प्राप्ति ३ स्वयमेव एक जीवन का लक्ष्य है। ३ आवश्यकता। ४ शिक्षा-साधन—१ सत्संग, २ स्वाध्याय, ३ भ्रमण। ४ विचार। ५ शिक्षा-महत्व, प्रभाव और लाभ। (क) आत्म विकास एवं गौरव, (ख) देश, समाज का गौरव, (ग) अर्थ, धर्म, काम-मोक्ष की प्राप्ति, (घ) दूसरों की ज्ञान-वृद्धि, ६ प्रमाण तथा उदाहरण।

स १—सारांश और निर्णय २—शिक्षा कैसी हो व कैसे दी जावे ३—परिणाम ४—विद्वद्वाक्य से समर्थन।

७—मित्रता

अ १—मित्रता का अर्थः—प्रकृतिसाम्य से एकता की उत्पत्ति २—इसका उद्गमः—मानव-प्रकृति ही में इसका बीज है।

प्रारम्भ ३—उद्देश्यः १—जीवन एवं लौकिक कार्यों में सहायता २—शक्ति-वृद्धि ३—सत्संग से आनंद।

ब ४ मित्र के गुण एवं कर्तव्य।

क—आवश्यक समय पर काम देने वाला ख—सन्मार्ग पर चलाने वाला ग—जीवन को उन्नत करने वाला घ प्रेमी तथा विश्वास पात्र ङ—सद्गुणी एवं सुकर्मी च—प्रमोदामोद देने वाला।

५—मित्र-चयन ६—झूठे मित्र और उनके लक्षण ७—मित्रता से लाभ एवं हानिः ।

१—सन्मित्रों से लाभ २—झूठे मित्रों से हानि ।

अन्त—स—प्राचीन लोगों के वाक्यांश और पक्ष-पुष्टि संक्षेप निर्णय, मित्र-मंडली को देखकर मनुष्य की परीक्षा ।

८—स्वावलम्बन

क—अर्थ—बिना किसी की सहायता या किसीके आश्रयादि के अपनी ही शक्ति से से खड़ा होना-तथाअपने सब कार्य कर लेना ।

उद्देश्यः—१—अपनी शक्ति का उपयोग तथा इसके कारण तद्विकास । २—अभीष्ट कार्य होना । ३—व्यर्थ ही किसी का मुखापेक्षी न होना । ४—अन्यान्य आत्मिक तथा शरीरिक सुधारों एवं गुणों का प्रकट होना ।

ख—१—आवश्यकताः—१—सहायक न होने पर भी कार्य करके अभीष्ट फल प्राप्त कर लेना । २—मनोनीत संपादन के लिये स्वयमेव कार्य करना ही उत्तम है । ३—झूठे सहायकों के विश्वास-घात से बचना । २—सर्वोन्नतिका मूल साधन— " बिना अपने मरे स्वर्ग नहीं दीखता " उदाहरण, प्रमाण ।

ग—लाभ—१—मन तथा चरित्र में बल आता है । २—कर्मण्य हो, कार्य करने में सशक्त होता है । ३—किसी के निहोरे के भार से बचा रहता है । ४—मनोनीति कार्य होता है । ५—कार्य

करने से स्वानुभव बढ़ता है। ७—आलस्य दूर रहता है।
८—किसी के बिना कार्य अटका नहीं रहता।
घ—निष्कर्ष व निर्णय—तत्पुष्टि और प्रमाण।

६—आरोग्यता

क—अर्थ—शरीर की सर्वथा स्वस्थ, सानुपात विकसित, स्वाभाविक प्रतिभा तथा शक्ति-संपन्न दशा को आरोग्यता जानना चाहिये।

ख—लक्षण—१—शरीर स्वस्थ तथा निरोग हो। २—सभी अंग स्वाभाविक विकास, प्रतिभा तथा शक्ति से सम्पन्न हो अपना अपना कर्तव्य-कर्म सुचारु रूप से करते हों। ३—शरीर में ओजस्फूर्ति तथा लाघव मयी सजीवता तथा चैतन्यता हो। ४—चित में प्रसन्नता, निर्भीकता, उत्साह-वाहिकता तथा रुचि-रोचकता हो। ग—आवश्यकता—१—जीवन के उद्द श्यों की पूर्ति के लिये २—शारीर एवं मानसिक प्रतिभा की वृद्धि के लिये। ३—आत्म-रक्षा के लिये। ४—पर-रक्षा के लिये। (देश, जाति, समाज के लिये) दीन, हीन बधुओं की रक्षा के लिये।

घ—साधनोपायः—१—पथ्य भोजन व वस्त्रादि। २—सुन्दर जल-वायु। ३—व्यायाम, दौड़ना, खेलना। ४-प्रणाम या, घूमना। ५—ब्रह्मचर्य व, सच्चरित्रता।

ङ—महत्ता—१ लोक में प्रभुता, आतंक, मान। २—समृद्धि सिद्धि आदि की प्राप्ति।

च—परिणामः—१—उदाहरण। २ प्रमाण।

१० काल या समय

आदि—

क—अर्थ— १—भौगोलिक, व गणित सम्बन्धी-माप। २—मनोविज्ञान सम्बन्धी। ३—विशेषार्थ—भाग्य, मौक़ा।

उद्देश्यः—१—अपने जीवन तथा उसके कार्यों के लिये यथाक्रमता, (काल-विभाग से) सरलता लाना। २—इतिहास की रक्षा के लिये। ३—स्मरण शक्ति को सहायता देने के लिये।

विभागः—१—भारतीय। २—पाश्चात्य। ३—इससे सभ्यता की जाँच।

मध्य—

प्राधान्यः—१—समयानुकूल प्रकृति के कार्य। २—समयानुसार मानव-कार्य —३—समयानुकूल जीवन प्रगति। ४—अच्छा और बुरा समय। ५—काल-वश्य संसार, वह जन्म, मृत्यु है।

उपयोग :—सदुपयोग— १— काव्यशास्त्र आनन्द में। २—भगवत-भजन। ३—सत्कार्यों में, सुविचारों में।

दुरूपयोगः—१—व्यसन। २—कलह। ३—नींद। ४—दुष्कर्मों एवं दुर्विचारों में।

अवसान—

समय-गतिः—१—प्रबल गति से भागने वाला (कार्यासक्तों के लिये)। २—भारी तथा शिथिल गति वाला (दुखी तथा आलसियों के लिये) ३—सुख-दुख-क्रम वाला।

मूल्य—१—अमूल्य है, अतः इसका ध्यान रखो। २—व्यर्थ न खोओ।

परिणामः—१—समय-मापक यंत्र, मापन-विधि। २—मानव-मन से इसका सम्बन्ध। ३—शिष्ट वाक्योपदेश।

अभ्यास

निम्नांकित विषयों के ढाँचे बनाओ :—

परिश्रम, संतोष, आदर्श-जीवन, मधुर-भाषण, मित-व्यायता, परोपकार, अतिथि-सत्कार, कर्तव्य, स्वभाव, भक्ति-भाव, उदारता, ज्ञान ही शक्ति है, फूट और कलह।

❀ इति ❀